रैदास

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ-रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

रैदास

लेखक

धर्मपाल मैनी

साहित्य अकादेमी

Raidas : A monograph in Hindi by Dharam Pal Maini on the Hindi author, Sahitya Akademi, New Delhi (2000), Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1979
द्वितीय संस्करण : 1982
तृतीय संस्करण : 1989
पुनर्मुद्रण : 1992,1993,1994
1998, 1999, 2000

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
बिक्री केन्द्र : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

प्रादेशिक कार्यालय
जीवनतारा, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
शारदा सिनेमा बिल्डिंग, दादर, मुंबई 400 014
सैंट्रल कॉलेज कैम्पस, डॉ.बी.आर. अम्बेदकर वीथि, बैंगलौर 560 001
सी.आई.टी.कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, चेन्नई 600 013

मूल्य : पच्चीस रुपये

ISBN 81-7201-0631-X

Website : http://www.sahitya-akademi.org

मुद्रक : सुपर प्रिंटर्स,
दिल्ली 110 051

क्रम

१

युग-चेतना

मध्ययुग भारतीय संस्कृति की जीवनी शक्ति का परीक्षा-काल रहा है। यह वह युग है जब कि छोटे-छोटे अशक्त राज्यों में विभक्त भारत न केवल राजनैतिक दृष्टि से ही अपना महत्त्व खो बैठा था, अपितु सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक सभी दृष्टियों से आभाहीन-सा प्रतीत होता था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह देश के साँस्कृतिक पराभव का युग था। राजनैतिक क्षेत्र में विदेशी आक्रमण-कारियों के सतत घातक प्रहारों ने न केवल भारतीय राजाओं की शक्ति को ही क्षीण कर दिया था, अपितु त्रस्त जन-सामान्य को भी यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया था कि उनके स्वामी जब अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ हैं तो उनकी रक्षा क्या कर सकेंगे? इतना ही नहीं, ये विदेशी आक्रान्ता न केवल यहाँ से द्रव्य ही लूटकर ले जाते रहे, अपितु धीरे-धीरे इन्होंने यहाँ आधिपत्य जमाना भी आरम्भ कर दिया था, जो कालान्तर में दृढ़ हो गया था। इस राजनैतिक पराभव की प्रक्रिया में जन-मानस की धार्मिक आस्था भी खंडित होती रही थी। भारतीय इतिहास में यह पहला अवसर था जब यहाँ के मन्दिरों को इस बुरी तरह ध्वस्त किया गया था, जिससे कि जनता को न केवल अपने देवता के दौर्बल्य का बोध हुआ था अपितु साथ ही अपनी शक्ति-हीनता का भी आभास होता जा रहा था। धार्मिक क्षेत्र में इस विकट स्थिति ने सामान्य सामाजिकों का उस अव्यक्त शक्ति से विश्वास लगभग हटा ही दिया था। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह मानसिक कष्ट और हार्दिक अनास्था का काल था।

इस राजनैतिक दौर्बल्य तथा धार्मिक अनास्था ने सामाजिक-चेतना को भी विकृत कर दिया था। ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था ने समाज की विशाल जन-संख्या को अन्त्यज या शूद्र कहकर उपेक्षित कर डाला था। ये शूद्र कहे जाने वाले मनुष्य दो प्रकार के कष्टों को भोग रहे थे। एक कष्ट उनका यह था कि उन्हें उनके ही देशवासी घृणा करते थे। यह मानसिक सन्ताप अन्य सब सन्तापों से

बढ़कर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों के द्वारा उनकी न केवल घोर उपेक्षा होती थी, वरन् उनको अस्पृश्य भी समझा जाता था। इनका कार्य सफ़ाई करना और सेवा करना था। समाज की अर्थ-व्यवस्था में इनका कोई अधिकार ही न था। सवर्णों की कृपा पर ही इनकी आजीविका चलती थी। दूसरी ओर विदेशी आक्रमणकारियों का संत्रास भी इनको भोगना पड़ता था। इस प्रकार इन शूद्रों का जीवन ऐसा नारकीय हो गया था कि उसमें जीवन को जीने के लिए स्वस्थ तथा प्राथमिक परिस्थितियों तक का अभाव हो गया था।

इस शूद्र कहे जाने वाले वर्ग की एक समस्या धार्मिक भी थी। भारतीय धर्म, प्रारम्भ से ही, ऐसी व्यवस्था के बीच उपजा और पनपा था, जो वर्ण और आश्रमों को विशेष महत्त्व देती थी। इस वर्ण-व्यवस्था का आदिम-आधार कर्मों के विभाजन के आधार पर समाज का संगठन था। कुछ समय बाद यह आधार छिन्न-भिन्न हो गया और वर्णों का निश्चय कर्म के स्थान पर जन्म से होने लगा। यह सब ब्राह्मणवादी युग में हुआ। समाज के नियमों और आचरण की संहिताओं का निर्धारण ब्राह्मण करते थे, अतएव सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था ब्राह्मणों के हितों की सुरक्षा का अधिकाधिक ध्यान रखती हुई शूद्रों को अधिकतम उपेक्षा, दरिद्रता और अधोगति की ओर फेंकती गई।

ऐसी ही अस्वस्थ समाज-व्यवस्था संत रैदास को अपने युग से विरासत में मिली थी। इस जड़ समाज-व्यवस्था की जड़ता को इस्लाम के आगमन ने भी बढ़ाया था। यह विदित तथ्य है कि इस्लाम का प्रचार और प्रसार तलवार की छाया के नीचे हुआ था। अरब में स्वयं हज़रत मुहम्मद साहब ने इस्लाम की स्थापना के लिए अनेक युद्ध किए थे। अतएव इस रक्त-रंजित धार्मिक विश्वास ने भारत में भी क़दम रखते ही एक नई प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। इस्लाम के प्रचारकों ने यह क़सम खा रखी थी कि वे दूसरे धर्मों को कुचल डालेंगे। अतएव भारत में उन्होंने हिन्दुओं के मन्दिरों को न केवल लूटा, वरन् उनकी मूर्तियों को भी खंड-खंड कर डाला। कुछ हिन्दू पुरोहितों को ज़बरदस्ती इस्लाम क़बूल कराया गया। जिस पंडित ने इस्लाम को नहीं माना, उसे मार डाला गया। दिल्ली के गुरु तेग़ बहादुर का बलिदान इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रमाण है। यहाँ पर स्मरणीय है कि ये वे ही पंडित और पुरोहित थे, जो हरिजनों का स्पर्श तक अपवित्र समझते थे, उनकी छाया तक के स्पर्श से अपवित्रता के भय से स्नान करते थे और उनको सदैव घृणित और उपेक्षणीय मानते थे—ये वे ही मूर्तियाँ थीं जिन्हें हरिजनों की छाया तक नहीं छू सकती थी। इस प्रकार हिन्दू-धर्म की इन स्थापित दृढ़ आस्थाओं को इस्लाम की आँधी ने बुरी तरह झकझोर डाला।

इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया भी हुई। अभी तक निर्धन और दलित वर्ग ब्राह्मणों और सवर्णों को अतिशय आदर एवं श्रद्धा देता आ रहा था। उनके द्वारा

स्थापित विधि-निषेधों को यथावत् स्वीकार करता जा रहा था। ईश्वर के प्रति उसकी पूज्य-बुद्धि थी, भले ही वह कर्म-कांड को अधिकार-क्षेत्र से बाहर मानता था। किन्तु पंडितों एवं पुरोहितों के वध तथा मन्दिरों के ध्वंस से ये शूद्र कहे जाने वाले निरीह मनुष्य चौंक उठे। पंडितों की धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षमता के प्रति उन्हें सन्देह होने लगा। मूर्ति-पूजा में ब्राह्मणों के द्वारा स्थापित आस्था उन मूर्तियों के ध्वंस से हिल उठी। यह इतना व्यापक मोह-भंग हुआ कि जिन नीच-कुल वालों को अभी तक धार्मिक अनुष्ठानों का अधिकार तक नहीं मिला था, वे ही संत-कवियों के रूप में धर्म-चर्चा करने लगे। उनके तर्क अकाट्य थे, अतएव उनके सिद्धान्तों को मान्यता का पर्याप्त समर्थन भी मिला। इन संतों के सामने ब्राह्मण-वाद की कमियाँ प्रकट थीं, अतएव इन्होंने उन दुर्बलताओं पर पूरी शक्ति के साथ प्रहार किए। वे नवीन पद्धति से सोचने के लिए विवश हो गए थे, अतएव उनके चिन्तन में विचारों के नए क्षितिज अपने आप ही खुल गए।

संतों की विचारधारा को साहित्यिक समीक्षा में एक आन्दोलन का रूप दिया जाता रहा है। वस्तुतः यह कोई नियोजित आन्दोलन न होकर व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर चेतना का मोहभंग था। भारतीय धर्म और दर्शन में खंडन और मंडन की जो परम्परा चलती आ रही थी, उसी परम्परा का यह एक नवीन आयाम था। हम गम्भीरता से विचार करें, तो पायेंगे कि इन संतों ने अपने विचारों में प्राचीन चिन्तन से भी प्रेरणाएँ ली हैं। प्राचीन विचारों में अपने ढँग से परिवर्तन एवं संशोधन भी किए हैं तथा नवीन चिन्तन को भी उन्होंने प्रकट करने में संकोच नहीं किया है। इसीलिए उनका स्वर परम्परा के अनुमोदन तथा विद्रोह दोनों का आभास देता है। समाज-शास्त्र के आलोक में विचार करने पर संतों की यह विचारधारा यदि भारतीय चेतना का पुनर्जागरण प्रतीत होती है तो समाज-रचना में पुनर्व्यवस्था का प्रयास भी इसे कहा जा सकता है। इसी विचारधारा में एक ऐसा स्वर रैदास का भी है, जिसे संतों की चर्चा करते समय कदापि उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

पैतृक सम्पदा में प्राप्त आर्थिक-दरिद्रता और नैतिक-समृद्धि संतों के जीवन का सबसे बड़ा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक-दरिद्रता का ही वरदान है और आन्तरिक गुणों के विकास के कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक-समृद्धि की ही देन है। लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में अद्भुत संतुलन और समन्वय स्थापित कर गौरवमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले संतों ने समय-समय पर समाज का पथ-प्रदर्शन कर युग-नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुतः संत कोई व्यक्ति-विशेष न होकर भावना-विशेष है, जिसका प्रसार अन्यान्य युगों में विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो पता चलता है कि इस भावना-विशेष के मूल तत्वों में प्रायः परिवर्तन नहीं

होता। युग की आवश्यकता और व्यक्ति की रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप इन तत्त्वों के अनुपात और क्रियात्मक प्रसार में थोड़ा-बहुत अन्तर रहता है, पर इसकी मूल-भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।

भारतीय मध्ययुग के इतिहास को सार्थक बनाने के लिए ही मानों इस भावना का यहाँ विकास हुआ, जो कबीर एवं रैदास-जैसे सशक्त व्यक्तित्व पाकर अपने प्रौढ़ रूप में प्रतिफलित हुई। समाज के तथाकथित निम्नवर्ग से उद्भूत इन संतों को समाज ने ठुकराने का दुःसाहस एकत्रित किया, लेकिन कौन जानता था कि यह दुःसाहस संतों को ही वह अदम्य शक्ति प्रदान करेगा कि वे इस आडम्बरपूर्ण समाज को ही ठुकराकर अपने पीछे लगा लेंगे। समाज के इस दुःसाहस ने उन्हें तनकर खड़े होने की शक्ति प्रदान की। उन्हें अपनी शक्ति, सामर्थ्य और मान्यताओं पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्म-निष्ठा और आत्म-विश्वास के बल पर वे न केवल स्वयं ही खड़े हुए, अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी उन्होंने अपने साथ खड़े पाया। यह उनकी सफलता का पहला चिह्न था। धीरे-धीरे समाज उनकी पुकार सुनने पर विवश हो गया। फक्कड़मस्ती में कही गई बातों ने समाज को अनायास ही प्रभावित करना आरम्भ किया, क्योंकि उनके यथार्थ चित्रण में सत्य का बल था, जिसकी बहुत देर तक उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार संत-भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होती थी, अब अविच्छिन्न धारा के रूप में सामाजिक परम्परा ही बन गई। मध्ययुगीन भारतीय समाज को इन संतों की यह सबसे बड़ी देन है। यह अविच्छिन्न सामाजिक परम्परा ही संतों की सामान्य मान्यताओं की साधन-भूमि है। एक परम्परा ही में चले जाने वाली मान्यताओं में कोई परिवर्तन न हुआ, ऐसी बात नहीं, लेकिन इस परिवर्तन का सम्बन्ध उनके मूल-तत्त्वों से न होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण मात्र से ही अधिक है। इस प्रकार रैदास से कुछ पहले से ही संत विचारधारा के जो तत्त्व विकसित हो रहे थे, वे न केवल रैदास में पूर्णतया विकसित और समृद्ध होकर प्रकट हुए, अपितु देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सशक्त विचारधारा के रूप में तब से उसकी अविच्छिन्न परम्परा भी प्रवाहित होती चली आई, जो आज तक इस देश में उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जाए, तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

संतों का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओं की आधार-भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होंने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओं से घबराकर वे जंगल में भागकर ब्रह्म की साधना करने नहीं चले गए, बल्कि कर्मण्य-जीवन बिताकर उनसे जूझ पड़े, इस प्रकार लौकिक उलझनों का क्रियात्मक समाधान करते हुए इसी जीवन के माध्यम

से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मन्दिर गए, न मूर्ति-पूजा की। व्रत, तीर्थ, स्नान, उपवास और माला फेरने से भी वे कोसों दूर रहे, फिर भी इस प्रकार के आचार-प्रधान ब्राह्मणों से वे कहीं धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणों ने पार्थिव और पारलौकिक जगत् में समाज के लिए जो खाई खोद रखी थी, वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होंने न केवल उसे भर दिया, अपितु जन-मानस के लिए प्रशस्त राजपथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वस्थ आचरणगत जीवन इनकी सामान्य मान्यताओं का सबसे सशक्त आधार है।

समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का उन्होंने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हें जो आन्तरिक शक्ति दी थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओं से घबराए नहीं। यह ठीक है कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओं के कारण वे इनमें से बहुत कम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये विषमताएँ उनके व्यक्तित्व को विश्रृंखलित न कर सकीं और वे सदा इनसे जूझते ही रहे—भागे कभी नहीं और इसीलिए हारे भी कभी नहीं। धार्मिक आडम्बरों और आवरणों का उन्होंने खुलकर विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया और यथासम्भव उनपर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारों से जूझते-जूझते उन्होंने सिर तक कटा दिया, पर उसे झुकने नहीं दिया, यह क्या कम है? आर्थिक दरिद्रता से अपने को उभारने के लिए कोई जीवन-भर कपड़ा बुनता रहा, तो कोई जूतियाँ ही गाँठता रहा—यह सच उनके जीवन की महानता नहीं तो और क्या है? कुल मिलाकर समाज की किसी भी शक्ति के प्रहार से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विघटित नहीं होने दिया, यही उनकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए वे संत-व्यक्तित्व की परम्परा में संत-भावना की ज्योति को जीवित और जागृत रख सके। जीवन की सभी समस्याओं के प्रति उनकी वह संतुलित दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की परम्परा को बनाए रख सकी।

इसी व्यक्तित्व के कारण उनकी जीवन और जाति के प्रति विशेष दृष्टि विकसित हुई। विश्व की चतुर्दिक समृद्धि और उसकी सामग्री उनके जीवन-यापन में साधन से अधिक कोई स्थान ग्रहण न कर सकी। उनका लक्ष्य सदा ही इससे भिन्न रहा। इसलिए उनमें ईर्ष्या न हुई और उस साध्य की ओर बढ़ते हुए भी वे सब इकट्ठे ही रहे। अलौकिक साध्य को स्वीकार करने के कारण उनके जीवन-दर्शन में एकरूपता के साथ स्थायित्व भी बना रहा। वस्तुतः जीवन-दर्शन में इस समता ने ही भावना की नींव को दृढ़ता और स्थिरता प्रदान की।

ऐसी राजनैतिक विशृंखलता, धार्मिक अनास्था, सामाजिक अव्यवस्था तथा आर्थिक दरिद्रता के युग में संत शिरोमणि रैदास आविर्भूत हुए थे। इस युग को अपनी नैतिक-चेतना का सम्बल देकर आध्यात्मिक ज्योति से आलोकित करने का श्रेय संत शिरोमणि रैदास को है। भारतीय संस्कृति को विकृत अधोमुखी वृत्तियों से बचाकर जीवित और जागृत रखने का गौरव रैदास एवं उस युग के संतों को दिया जा सकता है। इसीलिए हमने इसे भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का काल स्वीकार किया है।

२

जीवन-परिचय

संत किसी भी जाति या देश की ही नहीं, अपितु मानव-मात्र की अनश्वर सम्पत्ति होते हैं। उनका लौकिक जीवन अपने युग का आलोक-स्तम्भ होता है। वस्तुतः कोई भी राष्ट्र उनके दैनन्दिन व्यवहार एवं क्रिया-कलाप से ही अपनी जीवन्त-शक्ति ग्रहण करता रहता है। अतः इसके महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। हमारा दुर्भाग्य है कि इस देश के महापुरुष अपने विषय में प्रायः मौन रहे हैं और संत तो और भी अधिक शांत। यह भी उनकी गरिमा को बढ़ाता ही है। इतना होते हुए भी कभी-कभी परवर्ती शिष्यों ने उनके विषय में कुछ लिखा, तो कभी जन-मानस में प्रचलित जनश्रुतियों से उनके जीवन की घटनाओं एवं विवरणों के माध्यम से उनके जीवन एवं मूल्यों का कुछ बोध होता है। एकदम ऐतिहासिक तथ्यात्मक प्रमाणों के अभाव में भी हम उनके जीवन और व्यक्तित्व का कुछ परिचय पा जाते हैं, जिसे उनकी वाणी के सम्बल से पुष्ट भी कर लेते हैं। मध्ययुग के प्रतिभा-सम्पन्न सशक्त संतों में ऐसा ही गरिमामय व्यक्तित्व था संत रैदास का। उसका परिचय पाने का हमारा प्रयत्न यहाँ अंकित है।

रैदास की अनेक कृतियों में उनके अनेक नाम देखने को मिलते हैं। देश के विभिन्न भागों में उनके ऐसे अनेक नाम प्रचलित हैं जिनमें उच्चारण की दृष्टि से बहुत थोड़ा अन्तर है। रैदास (पंजाब), रविदास (आधुनिक), रयदास, रदास (बीकानेर की प्रतियों में), रयिदास आदि नाम इस उच्चारण की भिन्नता को ही प्रकट करते हैं। इसलिए लोक-प्रचलन और सुविधा की दृष्टि से उनका मूल नाम रैदास ही स्वीकार किया जाता है। काव्य-ग्रन्थों में रैदास का तत्सम रूप रविदास प्रयुक्त हुआ है। अन्य नाम देश और काल के भेद से उन्हीं के परिवर्तित और विकसित रूप माने जा सकते हैं। सिक्खों के धार्मिक ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में रैदास के कुछ पद संकलित हैं, जिनमें रैदास का नाम उल्लेख भी हुआ है। अतएव हम इस संत कवि का मूल नाम रैदास ही मानेंगे।

इस संत कवि के जीवन-वृत्त को प्रकाश में लाने का श्रेय उनकी अपनी कृतियों को ही मिलता है। हमारे पास ऐसा कोई बाह्य प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर रैदास के जीवन को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके। उनके जीवन की जानकारी के लिए हमें अन्तः साक्ष्यों और किंवदन्तियों को आधार बनाना पड़ता है। इस संत कवि ने अपने जीवन के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। केवल उनके कुछ पद उनकी जाति, कुल, परिवार, निवास-स्थान की स्थिति आदि का कुछ विवरण देते हैं। रैदास के पदों में उनके जीवन-काल के विषय में कुछ भी सूचना नहीं मिलती।

उनके जीवन-काल का बोध हमें उनके समकालीन व्यक्तियों के उद्धरणों के आधार पर ही हो सकता है। धन्ना और मीरा उनके समय में विद्यमान थे, ऐसी मान्यता है। धन्ना ने अपनी रचनाओं में रैदास का नाम बहुत आदर के साथ लिया है। इसलिए धन्ना (जन्म सं० १४७२) से कुछ पूर्व ही रैदास का जीवन-काल सिद्ध होता है। भक्तमाल में कहा गया है कि रैदास रामानन्द के शिष्य थे। स्वतः रैदास की वाणी में भी ऐसे उद्धरण उपलब्ध हैं, जहाँ उन्होंने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार किया है :

रामानन्द मोहि गुरु मिल्यो, पायो ब्रह्मविसास।
राम नाम अमीरस पिऔ, रैदास ही भयौ पलास ॥ (साखी सं० १३)

रामानन्द का समय चौदहवीं शताब्दी के मध्य से पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक माना जाता है किन्तु इसकी विरोधी धारणा यह भी प्रचलित है कि रैदास मीरा के गुरु थे। मीरा का समय सोलहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक माना गया है। इन दोनों भक्तों को विद्वानों ने बहुत आदर दिया है। प्रायः सभी विद्वानों की धारणा है कि रैदास कबीर (जन्म सं० १४५५) के समकालीन थे। यह बात बाह्य और अन्तः प्रमाणों के आधार पर उचित प्रतीत होती है। यह भी कहा जाता है कि रैदास आयु में कबीर से कुछ छोटे थे। इसी प्रकार अन्य संतों के साथ भी इनके सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार रैदास के जीवन-काल का निर्णय एक ऐसी समस्या है जिसका कोई निश्चित समाधान नहीं है। अतएव समकालीन व्यक्तियों को प्रमाण मानकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रैदास का जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ होगा। इनके जन्म की किसी निश्चित तिथि का हमें पता नहीं है। रैदास-सम्प्रदाय में यह व्यापक विश्वास है कि उनका जन्म माघ-पूर्णिमा के दिन रविवार को हुआ था :—

चौदह से तैंतीस की माघ सुदी पंदरास।
दुखियों के कल्यान हित प्रगटे श्री रविदास ॥

इसी दिन देश में उनकी जन्म-तिथि भी मनाई जाती है। अतः अन्य किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में हमें सं० १४३३ की माघ-पूर्णिमा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी, लेकिन उनकी मृत्यु की तिथि सं० १५८४ पर्याप्त विश्वसनीय प्रतीत होती है। इस प्रकार उनकी आयु १५१ वर्ष बैठती है, जो बहुत सम्भाव्य नहीं। दूसरा रैदास के कबीर से कुछ छोटा होने की बात में भी कुछ बल लगता है, अतः यदि उनका जन्म-समय सं० १४५६ के आसपास मान लिया जाए, तो रामानन्द के शिष्य होने में, कबीर से कुछ छोटे और समकालीन होने में तथा लगभग १२८ वर्ष की आयु पाने में विशेष आपत्तियों को स्थान नहीं रहता। अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का विधिवत् निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद रैदास-साहित्य के अधिकारी विद्वान् डॉ० बेणीप्रसाद शर्मा ने भी रामानन्द के शिष्य चेतनदास द्वारा सं १५०५ में रचित 'प्रसंग परिजात' के आधार पर भी उनका जन्म-काल यही स्वीकार किया है।

रैदास के जीवन के सम्बन्ध में दूसरा विवादपूर्ण प्रश्न उनके जन्म-स्थान का है। उनके जन्म-स्थान के संबंध में अनेक विरोधी मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि रैदास पश्चिमी भारत के रहने वाले थे। इस बात को मानने वाले विद्वान् यह विश्वास करते हैं कि रैदास पश्चिमी भारत में गुजरात या राजस्थान के रहने वाले थे। राजस्थान में भी उनका निवास-स्थान मेवाड़ था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे राजस्थान में मांडवगढ़ या मंडावर के निवासी थे। इस विश्वास को अपना समर्थन देने वाले विद्वानों ने प्रमाणों के रूप में रैदास के अनुयायियों की संख्या, रैदास की रचनाओं में उस क्षेत्र की भाषा के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग, चित्तौड़ में श्री श्यामजी का मंदिर तथा रैदास की छतरी का निर्माण और राजस्थान में ही मांडोगढ़ में रैदास के कुंड और रैदास की कुटी की स्थिति को प्रस्तुत किया है। यदि इन प्रमाणों की शक्ति पर विचार किया जाए, तो यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सभी तर्क शक्तिशाली नहीं हैं। अनुयायियों की संख्या अधिक होने से इस तथ्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता कि रैदास उस क्षेत्र के रहने वाले थे। वस्तुतः वहाँ के सरल लोगों को उनकी वाणी ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने अनायास ही रैदास को अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया।

रैदास के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में दूसरा मत उन्हें काशी या काशी के आस-पास का रहने वाला सिद्ध करता है। इस तथ्य को उनकी रचनाएँ स्वयं प्रमाणित करती है। रैदास ने अपनी रचनाओं में स्वीकार किया है कि उनकी जाति ढोरों को ढोने वाली है और वे बनारस के आस-पास के रहने वाले हैं :—

काशी डिग मांडूर सथाना, शुद्ध वरण करता गुजराना।
मांडूर नगर लीन औतारा, रविदास सुभनाम हमारा॥ (रैदास रामायण)

मेरी जाति कुटवाढ़ला ढोर ढुवंता नित ही बनारसी आसपास।
अब विप्र परधान तिहू करहिं डंडौति, तेरे नाम सरणाई रैदासानुदासा ।।

(रैदास वाणी)

उन्हें काशी का निवासी सिद्ध करने के लिए कुछ अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत किए जाते हैं। 'काशी माहात्म्य' नामक ग्रंथ में एक प्रसंग आया है जिसके अनुसार किन्हीं शंकराचार्य ने एक शूद्र से काशी में शास्त्रार्थ किया था। इस शूद्र के विषय में यह ग्रंथ मौन है किंतु एक दूसरे ग्रंथ 'भविष्य-पुराण' के चतुर्थ खंड में उल्लेख मिलता है कि सूर्य के दूसरे पुत्र 'पिंगलापति' ने मानदास नामक चर्मकार के यहाँ जन्म लिया, जिसका नाम रैदास रखा गया। इन सभी संदर्भों के आधार पर हम यह मानते हैं कि रैदास काशी या काशी के आस-पास के रहने वाले थे। इसी प्रश्न से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न भी उठता है। हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि रैदास काशी में कहाँ के रहने वाले थे? इस प्रश्न के समाधान में दो विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि वे काशी के गोपाल मंदिर के समीप के निवासी थे और दूसरा विश्वास है कि वे काशी के वाराणसी कैंट से लगभग दो मील पश्चिम में जी० टी० रोड पर स्थित 'मंडूर' नामक ग्राम के निवासी थे। इस ग्राम का प्राचीन नाम 'मंडुवाडीह' है। काशी के गोपाल मंदिर के तहखाने में 'तुलसी गुप्त' में रैदास की कुछ चीजें सुरक्षित रखी हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह मंदिर रैदास ने स्वयं ही बनवाया था। 'रैदास-रामायण' के अनुसार रैदास ने काशी के निकट 'मंडूर' नामक स्थान पर जन्म लिया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस स्थान पर प्राचीन-काल में चर्मकारों की बहुत बड़ी संख्या निवास करती थी। इस प्रकार यह विश्वसनीय है कि रैदास काशी या काशी के आस-पास के मंडुवाडीह-जैसे स्थान के रहने वाले थे।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि रैदास का जन्म चर्मकार परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस तथ्य को अनेक स्थलों पर स्वीकार किया है। भक्त कवियों की जीवन-कथाओं के एक संकलन भक्तमाल में रैदास के सम्बन्ध में एक विवरण है। इसमें कहा गया है कि स्वामी रामानन्द के शिष्य भिक्षा माँगकर लाते थे। स्वामी रामानन्द इस भिक्षा से ही भगवान् का भोग लगाया करते थे। उनकी कुटी के पास एक बनिया रहता था जिसकी भिक्षा वे कभी भी स्वीकार नहीं करते थे। एक दिन अधिक वर्षा होने के कारण उनके शिष्य किसी अन्यत्र से भिक्षा लेने के स्थान पर इसी बनिए से भिक्षा ले आए। अब गुरु रामानन्द भोग लगाने बैठे, तो उन्हें कुछ गड़बड़ ज्ञात हुई। उन्हें ध्यान से पता लग गया कि यह भिक्षा बनिये के यहाँ से आई है। स्वामीजी को यह भी

पता लग गया कि बनिया किसी चर्मकार के साथ व्यापार करता था। स्वामी रामानन्द ने अपने उस ब्राह्मण शिष्य को यह शाप दिया कि वह किसी चर्मकार के घर जन्म लेगा, और यही शिष्य दूसरे जन्म में 'रैदास' हुआ। यह भी विश्वास फैला हुआ है कि रैदास ने जन्म लेने पर अपनी माँ का दूध ही नहीं पिया। जब स्वामी रामानन्द आये और उन्होंने इस बालक को प्रबोध दिया, तब जाकर इस बालक ने माँ का दूध पिया।

अनन्तदास का विश्वास है कि रैदास पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे। उन्होंने ब्राह्मण होकर भी माँस खा लिया था। इसलिए दूसरे जन्म में उनको चमार के घर जन्म लेना पड़ा। 'भविष्यपुराण' में कहा गया है कि एक बार शनि, राहु तथा केतु ने कोप शांत करने के लिए सूर्य से अपने दो पुत्रों के घर जन्म लेने के लिए प्रेरित किया। सूर्य के एक पुत्र ने कसाई के घर जन्म लिया जिसे 'सधना' नाम मिला, दूसरा पुत्र मानदास नामक चमार के यहाँ उत्पन्न हुआ और इसे 'रैदास' कहा गया। इन किंवदन्तियों का सार यही है कि रैदास का जन्म चमारों की एक उपजाति 'चमकटैया' के एक छोटे परिवार में हुआ था। यह उपजाति आज भी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है।

रैदास के माता-पिता के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन जान पड़ता है। जनश्रुतियों तथा साम्प्रदायिक सूचनाओं के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले गए हैं। 'भविष्यपुराण' में रैदास के पिता का नाम मानदास बताया गया है। गुजराती-साहित्य में ऐसे संदर्भ बहुत हैं, जिनमें रैदास के गुरु का नाम मानदास बताया गया है। रैदास-पुराण में एक कथा दी गई है जिसमें यह विश्वास प्रकट किया गया है कि रैदास का जन्म माता के हाथ के फफोले से हुआ था। इस ग्रन्थ में रैदास की माता का नाम 'भगवती' दिया गया है। 'रैदास-रामायण' नाम के साम्प्रदायिक ग्रंथ में रैदास के पूर्वजों का संक्षिप्त परिचय भी मिलता है।

यहीं पर हमें पता चलता है कि रैदास के पिता का नाम 'राहु' था और उसकी माता 'कर्मा' थी। राहु के पिता और रैदास के पितामह हरिनंद थे और राहु के पिता की माँ का नाम चतरकोर था। रैदास की जीवनी को समर्पित ग्रंथ 'श्री रविदास भगवान का सत्य-स्वभाव' में लेखक ने सत्यानंद को रैदास का पिता और कर्मा को रैदास की माँ माना है। यह भी संदर्भ पूरी तरह विश्वसनीय नहीं है। इसलिए ये संदर्भ किसी विश्वास करने योग्य निष्कर्ष तक हमें नहीं पहुँचा सकते। रैदास की गद्दियों के उत्तराधिकारियों तथा अखिल भारतीय रविदासी महासभा के सदस्यों में यह विश्वास प्रचलित है कि रैदास के पिता का नाम रघू था। इसी मत का समर्थन 'रैदास-वाणी' के संपादक ने भी किया है। यह संभावना निराधार नहीं मानी जा सकती कि 'रविदास रामायण' में दिए गए उनके पिता के नाम 'रहु' से ही उनका प्रचलित नाम 'राहू' कर दिया गया हो। इसलिए

सुविधा की दृष्टि से और लोक-प्रचलन को ध्यान में रखते हुए हम रैदास के पिता का नाम रग्घू ही मानेंगे।

रविदास महासभा के अधिकांश सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि इस संत कवि की माँ का नाम 'घुरबनिया' था। जो लोग इस मत से सहमत नहीं हैं उनकी मान्यता है कि रैदास की माँ का नाम 'कर्मा था'। रैदास के साम्प्रदायिक उत्तराधिकारियों में भी इन दोनों नामों को लेकर मतभेद है और ये दोनों नाम उनकी कथाओं में प्रचलित हैं। अधिकांश जनमत उनकी माता का नाम घुरबनिया स्वीकार करने के पक्ष में है।

लोगों में विश्वास प्रचलित है कि 'लौणा' या 'लोना' रैदास की पत्नी का नाम था। इस नाम की पुष्टि 'रैदास-रामायण' से भी होती है। उनकी पत्नी भी चमारों की उपजाति 'चमकटैया' में जन्मी थी। चमारों में आज भी 'लोना' को देवी माना जाता है। नारियाँ अपने बच्चों के मंगल और समृद्धि का आशीष इसी देवी से माँगती हैं। यह भी विश्वास किया जाता है कि इस देवी की कृपा से अस्वस्थ बच्चे निरोग हो जाते हैं अतएव बीमारी के समय इस देवी की स्तुति की जाती है। यह देवी-पूजन इतना प्रचलित हुआ, संभवतः इसके पीछे रैदास के प्रति लोगों की श्रद्धा है। भक्तों और श्रद्धालुओं ने रैदास के साथ-साथ रैदास की पत्नी 'लोना' को भी अधिक महत्त्व दे डाला। भारतीय संस्कृति देवों के साथ देवियों और ईश्वर के साथ शक्ति को गौरव देती ही आई है। कुछ लोगों का विश्वास है कि रैदास को 'विजयदास' नामक एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई थी। इससे अधिक संतति के विषय में कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं।

रैदास शैशव से ही भक्ति की ओर उन्मुख होने लगे थे। कहा जाता है कि १२ वर्ष की आयु में उन्होंने सीताराम की मिट्टी की प्रतिमा बना ली थी। वे इसकी पूजा करते थे। यह बहुत ही असाधारण बात थी। हमें ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिला, जिससे यह पता चल सके कि उनकी विधिवत् शिक्षा भी हुई थी। अन्य संत-कवियों की भाँति रैदास ने गुरु-कृपा, सत्संग, भ्रमण, परिवेश तथा अन्तः प्रेरणा से ही ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने एक स्थल पर कहा है कि—हे मन, चल तुझे प्रभु की पाठशाला में पढ़ाऊँ :—

चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ। (पद ३०)

रैदास का प्रारम्भ का जीवन प्रायः अज्ञात ही है। उनके किशोर-जीवन का हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। इस अनुमान को शक्ति भक्तमाल, भगवान रविदास की सत्यकथा, रैदास रामायण, रविदास का सौम्य-स्वभाव, रैदास पुराण, रैदास परिचयी-जैसी उनके जीवन पर आधारित कृतियों से तथा लोगों में प्रचलित विश्वासों और जनश्रुतियों से मिलती हैं। अतएव इन ग्रंथों के संदर्भों को तथा

लोक-कथाओं और किंवदन्तियों में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर हम उनके जीवन का धुँधला-सा चित्र खींच सकते हैं। मध्यकालीन भारतीय समाज की रचना का एक सबल आधार वर्ण-व्यवस्था थी। इस वर्ण-व्यवस्था के पीछे कर्म के आधार पर समाज-संगठन का सिद्धान्त विद्यमान था। अतएव व्यवसायों पर वर्णों या जातियों का जो एकाधिकार था, वह आनुवंशिक रूप में उत्तराधिकार भी बन जाता था। अस्तु, रैदास ने भी पैतृक व्यवसाय का उत्तराधिकार प्राप्त किया और अपनी किशोर वय में ही चर्म का व्यवसाय करने लगे। रैदास के पदों में इस व्यवसाय की साक्षी प्रचुर है—'चमरठा गाँठ न जनई, लोग गठावें पनहीं' (पद ३१) इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि रैदास इस चर्म-कर्म में भी निपुण न थे। संभवतः उनको अपनी रुचि के विरुद्ध उनके पिता ने इस कर्म में लगा दिया होगा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रैदास की प्रतिकूल रुचि और विरक्ति को देखकर उनके पिता ने बाद में उन्हें इस धंधे से अलग कर दिया। अब वे अपने पैतृक मकान के पीछे झोंपड़ी में ही निवास करने लगे।

अनंतदास लिखते हैं :—

बड़ो भयौ तब न्यारौ कीनौ, बाँटे आवै सो बाँटि न दीनौ।
राध्या बावरी के पछिवारे, कछु न कह्यौ रैदास विचारे।
सीधो चाम मोलि लै आवै, ताकी पनही अधिक बनावै।
टूटे फाटे जरवा जोरे मसकत करि काहु न निहारै।

उनका जीवन अधिक से अधिक ईश्वर की ओर उन्मुख होने लगा।

रैदास के विषय में सुप्रसिद्ध है कि वे किसी पशु को मारकर उसका चमड़ा नहीं निकालते थे। उनका काम मरे हुए जानवरों के चमड़े से जूता बनाने का था। वे उदार भी इतने थे कि निर्धन और साधु-पुरुषों को बिना कोई मूल्य लिए जूता पहना देते थे। इस प्रकार की प्रसिद्धि जन-जीवन में बहने लगी। उस समय धार्मिक संकीर्णता व्याप्त थी। यह संयोग की बात ही थी कि रैदास की कर्मभूमि भी वही काशी थी, जो विभिन्न कर्मकांडी ब्राह्मणवादी पंडितों का केंद्र थी। इन पंडितों और रैदास के बीच एक विरोध की भावना पनपती गई। फलतः यह पंडित इस बात को सह नहीं सके कि कोई नीच कुल में जन्म लेने वाला चर्मकार धर्मगुरु बने। इसलिए इन पंडितों ने रैदास का पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। इन पंडितों ने इस बात का प्रतिवाद किया कि रैदास अवतार है। यहाँ पर स्मरणीय है कि अनंतदास ने अपने ग्रंथ 'रैदास की परिचयी' में माना था कि वे पूर्वजन्म में नारद थे।

काशी के पंडितों का विरोध बहुत उग्र था। इस विरोध की अनेक कथाएँ लोक-जीवन में प्रचलित हैं। कहा गया है कि रैदास की प्रसिद्धि से आतंकित ब्राह्मण और पंडित काशी के राजा के पास गए। उन्होंने काशी-नरेश से इस बात

की शिकायत की कि एक शूद्र भगवान् की पूजा कर रहा है, जनता में धर्म का प्रचार करता है। इन पंडितों की दृष्टि से यह अनुचित था। काशी-नरेश भी इस बात से सहमत थे कि धर्म का प्रचार करने का अधिकार ब्राह्मण तथा योग्य पात्रों को ही है। इसलिए काशी नरेश ने रैदास की योग्यता की परीक्षा लेने का निश्चय किया। काशी-नरेश ने दोनों पक्षों को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। उस समय की धार्मिक योग्यता की कसौटी शास्त्रार्थ ही था। शास्त्रार्थ में बहुत बड़ी संख्या में जनता भी श्रोताओं के रूप में आई। रैदास के तर्कों के सामने पंडितों का पक्ष निर्बल सिद्ध हुआ। पंडितों ने यह प्रयास किया कि कोई निर्णय ही न हो सके। ऐसी स्थिति में जनता की इच्छा के अनुसार भगवान् का सिंहासन मँगवाया गया और दोनों पक्षों को उस सिंहासन पर विराजमान मूर्ति का आह्वान(बुलाने)करने के लिए कहा गया। उन दोनों पक्षों को यह बताया गया कि जिसके आह्वान पर मूर्ति गोद में आकर बैठ जाएगी, वही पक्ष विजयी घोषित होगा। यह भी घोषणा की गई कि पराजित पक्ष को विजयी पक्ष को सिंहासन पर बैठाकर और उस सिंहासन को अपने कंधों पर उठाकर नगर में घुमाना होगा। यह लोक प्रसिद्ध है कि पहले पंडितों ने अनेक प्रकार के मंत्रों से उस मूर्ति का आह्वान किया, किन्तु उस मूर्ति में कोई स्पन्दन लक्षित नहीं हुआ। इसके बाद रैदास ने भाव-विभोर होकर भगवान् की स्तुति की। कहा जाता है कि रैदास के आह्वान पर वह भगवान् की मूर्ति रैदास की गोद में आ गई। रैदास को सिंहासन में बैठाकर, पंडितों को नगर में वह सिंहासन भी घुमाना पड़ा। रैदास की यह पंक्ति इसी घटना की सूचक मानी जाती है :

"ऐसो लाल तुझ बिन कौन करे।
दीनदयाल गुसाइयाँ, मेरे आये छत्र धरे।" (पद 16)

लोगों का विश्वास है कि रैदास की ख्याति से प्रभावित होकर चित्तौड़ की झाली रानी ने इनको अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों की मान्यता है कि यह झाली रानी ही मीरा थी, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मीरा रैदास की शिष्या थी। इससे कम-से-कम इस बात का तो पता चलता है कि अपने जीवन-काल में ही रैदास एक सिद्धि-प्राप्त धर्मोपदेशक के रूप में यश अर्जित कर चुके थे। उनके यश को सूचित करने वाली अनेक जनश्रुतियाँ हैं। एक जन-श्रुति के अनुसार रैदास के आश्रम में कथा-कीर्तन हुआ करता था। एक बार एक धनवान सेठ भी इस कथा-कीर्तन को सुनने के लिए आया। पूर्व दिनों की भाँति कथा-कीर्तन और धर्मोपदेश के पश्चात् भक्तों में उस मिट्टी के बर्तन से चरणामृत बाँटा गया जिसमें रैदास अपना चमड़ा भिगोते थे। उस धनवान सेठ ने दिखावे के लिए चरणामृत ले लिया किन्तु यह सोचकर कि यह किसी शूद्र के हाथों से मिला है उसने उसे पिया नहीं। उस

चरणामृत को उस सेठ ने अपने सिर के ऊपर से फेंका। इस प्रकार उसका कुछ भाग उसके कपड़ों पर गिर गया। सेठ ने घर आकर स्नान किया और उन कपड़ों को अपवित्र जानकर एक भंगी को दान में दे दिया। भंगी ने ज्यों ही उन कपड़ों को धारण किया उसका शरीर कान्ति से चमकने लगा और सेठ को कोढ़ हो गया। अब सेठ की समझ में आया कि उसने किसी भक्त का अपमान किया है जिसके कारण उसे यह कष्ट हुआ है। वह दुखी सेठ रैदास के पास गया और उसने रैदास से क्षमा-याचना की। उदार हृदय रैदास ने उस सेठ को क्षमा कर दिया और रैदास की अनुकम्पा से वह सेठ स्वस्थ हो गया।

एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार रैदास एक बार यात्रा में प्रयाग पहुँचे। उस समय वहाँ कुम्भ का मेला लगा था। इसलिए उस मेले में रैदास के प्रशंसकों ने उनका बहुत सम्मान किया। उनके इस सम्मान से पंडित चिढ़ गए। इन पंडितों ने रैदास को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। यह तय कर लिया गया कि दोनों पक्ष अपने हाथ में सालिगराम भगवान् की मूर्ति लेकर गंगा में बहाएँगे। कहा जाता है कि पंडितों की नहीं, वरन् रैदास के हाथों से बहाई हुई मूर्ति जल में तैरने लगी। यह भी विश्वास किया जाता है कि निम्नलिखित पंक्तियाँ रैदास ने इसी अवसर पर शक्ति के साथ गाई थीं :—

"मूरति माँहि बसे परमेश्वर
तो पानी माँहि तिरै रे"

एक अन्य जन-श्रुति के अनुसार एक ब्राह्मण प्रतिदिन राजा की ओर से गंगा की पूजा करने जाया करता था। एक बार जब वह गंगा की पूजा के लिए जा रहा था तो मार्ग में रैदास की कुटी पर रुक गया। रैदास ने देखा कि उसका जूता बिल्कुल फट गया है। रैदास ने उसे जूतों का एक नया जोड़ा पहनने को दे दिया। रैदास ने उसे एक सुपारी भी दी और यह अनुरोध किया कि वह ब्राह्मण उस सुपारी को गंगा में चढ़ा दे। कहा जाता है कि उस ब्राह्मण ने पूजा समाप्त करके जब सुपारी को गंगा में फेंकने का विचार किया, उसी समय आश्चर्य की बात थी, कि गंगा स्वयं मूर्तिमती होकर सामने आ गई और गंगा ने अपने हाथों से सुपारी को ग्रहण किया। गंगा ने सुपारी के बदले एक सोने का कंगन भी दिया। ब्राह्मण उस सोने के कंगन को लेकर चला। मार्ग में उसने विचार किया कि वह इस कंगन को राजा को भेंट करेगा। हो सकता है कि राजा प्रसन्न होकर उसे कुछ पुरस्कार दे। उसने ऐसा ही किया। राजा ने उस कंगन को देखा और बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर राजा ने उसे पुरस्कार दिया। राजा ने उस कंगन को अपनी प्रिय रानी को दे दिया। रानी भी उस कंगन को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने राजा से उसी प्रकार का एक और कंगन मँगवाने का अनुरोध किया। राजा ने अनेक

कारीगरों से उस प्रकार का कंगन बनवाने का प्रयास किया किन्तु कोई कारीगर वैसा कंगन बनाने में सफल सिद्ध न हो सका। रानी दिनों-दिन वैसा ही कंगन पाने के लिए ज़िद पकड़ती गई। अंततः वैसा कंगन न पाकर वह दुःखी हुई और एक दिन बीमार पड़ गई। वैद्यों ने राजा से कहा कि जब तक उसे ऐसा ही कंगन नहीं मिल जाता वह स्वस्थ नहीं हो सकती। राजा को उस ब्राह्मण पर क्रोध आया कि उसने ही ऐसा कंगन लाकर रानी को कष्ट दिया है। तब राजा ने ब्राह्मण को आदेश दिया कि जहाँ से वह यह कंगन लाया है, वहीं से दूसरा कंगन भी लाकर दे, अन्यथा उसे मृत्युदंड मिलेगा। भयभीत ब्राह्मण ने राजा को सारी घटना सुना दी। राजा भी बहुत दुःखी हुआ। रानी की दशा दिनों-दिन ख़राब होती जा रही थी। राजा के मंत्रियों ने सुझाव दिया कि अब एक ही उपाय शेष है। वह उपाय यह है कि रैदास की शरण में जाया जाए और उनके अनुग्रह से वैसा ही कंगन पाया जाए। राजा रैदास की शरण में गया। उस राजा ने रैदास से अपनी कष्ट-कथा कही। रैदास ने मुस्कराते हुए अपनी कुटी के पास बने सरोवर के किनारे गंगा की स्तुति की। राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने देखा कि गंगा ने उस सरोवर से ही प्रकट होकर वैसे ही अनेक कंगन रैदास को दिए। रैदास ने गंगा के हाथों केवल एक ही कंगन स्वीकार किया और उन्होंने वह कंगन राजा को दे दिया। उस कंगन को पाकर रानी भी स्वस्थ हो गई। बाद में राजा और रानी भी रैदास के श्रद्धालु शिष्य बन गए।

रैदास के जीवन के प्रसंग में लगभग ऐसी ही एक कथा गढ़वाल में भी प्रसिद्ध है। अंतर केवल इतना है कि गढ़वाली लोक-कथा में इस गंगा-भक्त ब्राह्मण को 'ब्रह्मा' कह दिया गया है। इस कथा के अनुसार देवों के मध्य विराजमान ब्रह्मा को जिज्ञासा हुई कि पृथ्वी पर श्रेष्ठ भक्त कौन है? देवों ने उत्तर में कबीर और कमाल के साथ रैदास का भी नाम लिया। देवों का कहना था कि रैदास ने 12 वर्ष तक गंगा की सेवा की है। ब्रह्मा के भी मन में गंगा की आराधना का विचार उत्पन्न हुआ। वे नित्य-प्रति गंगा की पूजा हेतु जाने लगे। एक बार मार्ग में रैदास मिले, जिन्होंने एक पैसा गंगा को चढ़ाने के लिए ब्रह्मा को दिया। ब्रह्मा के मन में संकोच था कि हरिजन के हाथ का पैसा किस प्रकार गंगा को चढ़ाएँ। अतएव उन्होंने रैदास के अनुरोध की उपेक्षा करते हुए वह पैसा नहीं चढ़ाया। वापस आते हुए मार्ग में ब्रह्मा को कुछ भी नहीं दिखाई दिया था। वे दृष्टिहीन हो चुके थे। अतएव उन्होंने फिर से वापस जाकर गंगा-पूजन किया और रैदास का पैसा चढ़ाया। इस बार गंगा ने एक स्वर्ण-कंगन रैदास को देने के लिए ब्रह्मा को दिया।

ब्रह्मा उस कंगन को रैदास को नहीं देना चाहते थे। अतएव वे दूसरे मार्ग से लौटने लगे। किन्तु ब्रह्मा यह देखकर परेशान हो उठे कि वे जिस मार्ग को

पकड़ते थे, उसी मार्ग पर उन्हें रैदास खड़े हुए मिल जाते थे। अंततः ब्रह्मा ने वह कंगन रैदास को दे दिया और रैदास से अपने अपराध की क्षमा-याचना की।

एक बार रैदास माण्डोर गए। इस स्थान को मांडोगढ़ भी कहते हैं। वहाँ पर उन्होंने गंगा के आदर के लिए सामूहिक भोज दिया। रैदास की भक्ति से प्रसन्न होकर गंगा एक सुन्दर युवती का रूप धारण कर स्वयं इस भोज में सम्मिलित हुई। इस रूप में गंगा को मांडोर के राजा ने भी देखा। वह उसकी सुन्दरता पर इतना आसक्त हो गया कि वह उससे विवाह का विचार करने लगा। उसने रैदास से कहा कि वह उस कन्या को विवाह के लिए राजी कर लें, अन्यथा उन्हें मृत्युदंड दिया जाएगा। रैदास बहुत ही चिन्ता में पड़ गए। रैदास की सहायता के लिए गंगा ही उस लड़की के रूप में आकर उपस्थित हो गई और उन्होंने विवाह की स्वीकृति भी दे दी। जब राजा बारात लेकर आया तो गंगा पूर्ण शृंगार कर सबके सामने उपस्थित हुई और एक पल में निकटस्थ सरोवर में कूदकर विलीन हो गई। इसके बाद कुंड से एक बहुत बड़ी जलधार निकली जिसमें राजा और उसके परिजन डूब गए। केवल रैदास और उनके भक्त डूबने से बच गए।

अपने जीवन के परवर्ती भाग में झाली रानी के निमंत्रण पर रैदास चित्तौड़ भी गए थे। उनके सम्मान में रानो ने एक बहुत बड़ा लोक-भोज दिया था। बाह्मणों ने इस बात का बुरा माना कि रानी एक अछूत का इतना सम्मान कर रही है। इसीलिए बाह्मणों ने इस भोज में सम्मिलित होनें से इंकार कर दिया। रानी के आग्रह पर ब्राह्मण इस बात पर सहमत हो गए कि वे अपना भोजन स्वयमेव पकाएँगे और तब खाएँगे। अस्तु, जब ब्राह्मण अपना पकाया हुआ भोजन करने बैठे, तो उनमें से प्रत्येक को अपने बीच में रैदास बैठे हुए दिखाई दिए। तब कहीं जाकर ब्राह्मणों को अपनी त्रुटि का बोध हुआ। उन्होंने रैदास से क्षमा-याचना की। बाद में रैदास ने अपनी त्वचा चीरकर सोने का जनेऊ दिखाकर उन्हें विश्वस्त कर दिया कि वे पूर्वजन्म में ब्राह्मण थे। जनेऊ की चमक से सबकी आँखें बंद हो गईं और रैदास केवल अपने पद-चिह्न भर छोड़कर विलीन हो गए। चित्तौड़ में रानी ने उन्हीं की स्मृति में स्मारक भी बनवाया। यही स्मारक रैदास की छतरी है।

रैदास अपने जीवन में पर्याप्त पर्यटन करते रहे। इन पर्यटनों और यात्राओं का विवरण प्रचलित लोक-कथाओं में ही उपलब्ध होता है। कुम्भ मेले के अवसर पर प्रयाग की उनका यात्रा प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मथुरा-वृंदावन की यात्रा भी जनश्रुत ही है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि दक्षिण में तिरुपति तक तथा उत्तर में मुल्तान तक उन्होंने भ्रमण किया था।

यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने ऊपर ईश्वर के अनुग्रह को सिद्ध करने के लिए एक बार भगवान् का सिंहासन ही सरिता में फेंक दिया था। बाद

में जब उन्होंने उसमें स्थित मूर्ति का ध्यान किया, तो सिंहासन-सहित वह मूर्ति रैदास के पास स्वयंमेव आ गई थी। इसी मूर्ति की प्रतिमा चितौड़ में कुम्भन श्यामजी के मंदिर में स्थापित की गई है।

वस्तुत: ये घटनाएँ रैदास के जीवन के उत्तरार्द्ध की हैं। इस समय तक लोक-जीवन में वे पर्याप्त सुप्रसिद्ध हो चुके थे। साथ ही लोगों की यह दृढ़ धारणा हो चली थी कि वे सिद्धि-प्राप्त संत हैं। उनके निर्वाण की तिथि का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। रैदास के राजस्थानी अनुयायियों का विश्वास है कि चितौड़ की छतरी ही उनका निर्वाण-स्थल है। स्मृति के रूप में रैदास के पग-चिह्न इस छतरी में आज भी बने हुए हैं। इस मत का प्रतिवादी मत 'रैदास-रामायण' में हमें मिलता है। इस ग्रंथ की साक्षी यह है कि रैदास ने गंगा-तट पर तपस्या करते हुए इस जीवन से मुक्ति पाई। भले ही स्थान और तिथि के विषय में इन दोनों मतों में भेद हो, किन्तु इस बात पर मतभेद नहीं है कि वे इस शरीर के साथ ही विलुप्त हो गए थे। इन दोनों मतवादों का विश्वास है कि उनकी साधारण मृत्यु न होकर जीवन-मुक्ति हुई थी।

रैदास-सम्प्रदाय के पक्षधर मानते हैं कि रैदास का निर्वाण चैत्र मास की चतुर्दशी को हुआ था। कुछ विद्वानों का विचार है कि उनकी मृत्यु सं० १५९७ में हुई थी। यह तिथि 'भगवान रैदास की सत्यकथा' ग्रंथ में दी गई है। 'मीरा स्मृति-ग्रन्थ' में रैदास का निर्वाण-काल सं० १५७६ दिया गया है। यह भी विश्वास किया जाता है कि उन्हें १३० वर्ष की दीर्घायु मिली थी।

अनन्तदास ने लिखा है :—

पन्द्रह सौ चउ असी, भई चितौर महं भीर।
जर-जर देह कंचन भई, रवि रवि मिल्यौ सरीर॥

इससे स्पष्ट है कि संवत् १५८४ में रैदास ने चितौड़ में देह-त्याग किया था। आधुनिक शोध पर आधारित यह मत अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

संक्षेपत: कहा जा सकता है कि रैदास सामान्य चर्मकार घर में जन्म लेकर कर्मण्य सामान्य गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी महान् मानवीय गुणों से मंडित होते रहे। इसी से उनका आन्तरिक मानव जागृत होता गया और वे अनायास ही जन-मानस को भी आलोकित करते गए। इतना होने पर भी उनका 'अहं' कभी उद्वेलित नहीं हुआ, अपितु उनकी विनयिता, सौम्यता एवं शालीनता ने उन्हें जन-मन का कंठहार बना दिया। यही उनके जीवन और व्यक्तित्व की महिमा एवं गरिमा के पद-चिह्न हैं।

३

वाणी-परिचय

व्यक्ति की अभिव्यक्ति उसकी गरिमा की परिचायिका होती है। अतः उसकी सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति का बोध होना आवश्यक है। संत प्रायः आत्म-प्रदर्शन से बहुत दूर थे और विधिवत् पठन-पाठन एवं लेखन से भी अछूते थे। इसलिए उनकी सहज अनुभूति की सशक्त अभिव्यक्ति अपने स्वाभाविक रूप में हमें बहुतायत से नहीं मिलती। उनकी बहुत-सी वाणी उनके सम-सामयिक भक्त-शिष्यों ने अथवा कभी-कभी परवर्ती-शिष्यों ने संग्रहीत करके लिपिबद्ध की है जिसके प्रामाणिक हस्तलेख बहुत कम देखने को मिलते हैं। इतना होते हुए भी रैदास की सम्पूर्ण वाणी को प्रकाश में लाने का श्रेय जिन विद्वानों को है उनके प्रयत्नों पर हम एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

प्रकाशित कृतियाँ

(१) आदि ग्रन्थ में उपलब्ध रैदास की वाणी, (२) रैदास की वाणी, बेलवेडियर प्रेस, (३) संत रैदास और उनका काव्य (सम्पादक रामानन्द शास्त्री तथा वीरेन्द्र पांडेय), (४) संत सुधासार (सम्पादक वियोगी हरि), (५) संत-काव्य (परशुराम चतुर्वेदी), (६) संत रैदासःव्यक्तित्व एवं कृतित्व (श्री संगम लाल पांडेय), (७) संत रैदास (डॉ० जोगिन्दरसिंह), (८) रैदास दर्शन (सम्पादक आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद), (९) संत रविदास (श्री रत्नचन्द), (१०) संत रविदास विचारक और कवि (डॉ० पदम गुरुचरण सिंह) और (११) संत गुरु रविदास वाणी (डॉ० बेणी प्रसाद शर्मा)।

१. आदि ग्रन्थ—आदि ग्रन्थ-साहिब को पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ में सम्पादित किया था। इसमें उस समय जो रैदास के ४० पद और एक दोहा १६ रागों में संग्रहीत हैं, वे उसी रूप में आज तक उपलब्ध हैं। इसे रैविदास वाणी का प्राचीनतम प्रामाणिक संग्रह माना जा सकता है। इन पदों में उनकी निर्गुण

विचारधारा प्रमुख रूप से उभर कर आई है।

२. बैलवेडियर प्रेस (इलाहाबाद) से प्रकाशित रैदासजी की वाणी में ८४ पद और ६ साखियाँ मिलती हैं। इन पदों की भाषा आदि-ग्रन्थ में उपलब्ध वाणी की अपेक्षा परवर्ती है तथा कुछ पदों में फ़ारसी की पर्याप्त शब्दावली के दर्शन होते हैं। किसी विशेष प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित प्रति का आधार प्रस्तुत करने के अभाव में इसको उतना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तो भी जन-सामान्य में प्रचार की दृष्टि से यह वाणी ही सर्वाधिक प्रचलित रही है।

३. 'संत रैदास और उनका काव्य'—रामानन्द शास्त्री द्वारा संवत् २०१२ में सम्पादित इस संग्रह में भी उनके विस्तृत जीवन-चरित्र तथा वाणी के आलोचनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त उनकी बहुत-सी वाणी को संग्रहीत करने का अच्छा प्रयत्न किया गया है।

४. वियोगी हरिजी ने 'संत सुधासार' में अन्यान्य संतों की वाणी के साथ रैदास जी को भी उच्च कोटि का संत मानते हुए इनके २० पद तथा ५ साखियों को अपने संग्रह में स्थान दिया है।

५. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने बड़े श्रम से संतों की वाणी का उपयुक्त चुनाव करके प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। इसमें उनके जीवन तथा काव्यगत गरिमा का संक्षिप्त परिचय दिया है। उच्च कक्षाओं को संत-काव्य का गम्भीर अध्ययन करवाने के लिए यह उपयोगी संग्रह है।

६. श्री संगम लाल पांडेय ने अपनी कृति में १०७ पद तथा ७ साखियों का संकलन किया है। पाद-टिप्पणी देकर उन्होंने कठिन शब्दों एवं उनके सिद्धान्तों को समझने में भी सहायता दी है। व्याख्या की दृष्टि से पाठक के लिए यह उपादेय है।

७. डॉ० जोगिन्दरसिंह ने अपनी कृति के अन्त में ११२ पद, ८ साखियाँ तथा प्रह्लाद-चरित्र नामक रचना दी है। पाद-टिप्पणियों में अन्यान्य पद-भेदों को देकर उन्होंने इसे अधिक प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया है। जीवन-परिचय, विचारधारा तथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन अच्छा किया गया है। कुल मिलाकर यह अच्छी पाठ्य-पुस्तक है।

८. आचार्य आज़ादजी ने अन्यान्य सहयोगियों की सहायता से रविदास-दर्शन में ३७ उप-शीर्षकों के अन्तर्गत १६८ साखियाँ प्रस्तुत की हैं। इसके लिए उन्होंने,अन्यान्य उपलब्ध हस्तलिखित-कृतियों का आश्रय लिया है। मौखिक परम्परा में आगत सम्प्रदाय में उपलब्ध वाणी का भी उन्होंने उपयोग किया है। बड़े व्यापक धरातल पर उन्होंने यह संग्रह प्रस्तुत किया है। आरम्भ में भक्ति का विकास, रैदास के विचार एवं भक्ति-भावना आदि का विशेष परिचय देकर इसे महत्त्वपूर्ण कृति बना दिया है।

९. श्री रत्नचन्दजी ने रैदास की जीवनी तथा सिद्धान्तों का सामान्य परिचय देने के बाद उनके ५२ पद तथा ३ साखियाँ उनके संग्रह में प्रस्तुत की हैं। इन पदों में उनका दैन्य-भाव, विनय-भाव, आत्म-निवेदन, आत्मानुभूति आदि को महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है।

१०. डॉ० पद्म ने रविदास जयन्ती पर संत रैदास को जो अनुपम कृति भेंट की है वह अब तक उपलब्ध सभी कृतियों से अधिक वैज्ञानिक, सम्बद्ध तथा प्रभावोत्पादक कही जा सकती है। उन्होंने केवल गुरु-ग्रन्थ-साहिब में संकलित वाणी को ही पूर्णतया प्रामाणिक मानते हुए अपने परिशिष्ट में दिया है। रैदास का जीवन-चरित्र, उनकी पृष्ठिभूमि, विचारधारा तथा वाणी-सौष्ठव सभी का उन्होंने लगभग दो सौ पृष्ठों में बड़ा व्यापक विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इससे रैदास का सर्वांगीण परिचय मिल जाता है।

११. अब तक प्रकाशित रैदास के सभी वाणी-संग्रहों में से सर्वाधिक प्रामाणिक सम्पादित संग्रह डॉ० बेणी प्रसाद शर्मा का कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने आठ-दस वर्षों के अथक प्रयत्न से रैदास के उपलब्ध प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण हस्तलेखों का निरीक्षण-परीक्षण करके अधिकाधिक पदों को संग्रहीत करके प्रामाणिक रूप से सम्पादित करने का प्रयास किया है। इसमें १७७ पद तथा ४९ साखियाँ हैं। रैदास-दर्शन में सम्पादित १९३ साखियों को यहाँ पुनः नहीं दिया गया। ३९ साखियों में रैदास-कबीर गोष्ठी भी दी गई है तथा १८ पदों में प्रह्लाद-चरित्र भी। लेखक ने अब तक उपलब्ध सभी महवत्त्पूर्ण हस्तलेखों का आरम्भ में परिचय देकर अपनी कृति की प्रामाणिकता की पृष्ठभूमि तैयार की है। बीकानेर के अन्याय संग्रहों में उपलब्ध रैदास की वाणी का उपयोग किया है। जोधपुर के भी ४ शोध-संस्थानों में उपलब्ध रैदास की वाणी का परीक्षण करके उनमें से भी उपयुक्त वाणी को लिया है। इसी प्रकार जयपुर से लगभग २३ हस्तलिखित कृतियों में से रैदास की वाणी संग्रहीत की गई है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध हस्तलेखों से रैदास-वाणी का संग्रह भी किया गया है। इस लेखक ने भी लगभग २५ वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी सभा काशी के हस्तलेख संख्या २५२१/१४०९ के आधार पर रैदास के ७४ पदों से साहित्य-जगत को परिचित कराया था। डॉ० शर्मा ने अपनी कृति में अब तक प्रकाशित रैदास सम्बन्धी सभी कृतियों का परिचय नहीं दिया, तो भी सम्पादक की समस्या के संदर्भ में पाठालोचन के सिद्धांतों को स्पष्ट करते हुए रैदास की वाणी का शुद्धतम पाठ मूल-रूप में पाठकों को उपलब्ध कराने की घोषणा अवश्य की है। यद्यपि अपने निष्कर्ष में उन्होंने यह कहीं स्पष्ट नहीं किया कि किस हस्तलिखित प्रति को वे सर्वाधिक प्रामाणिक समझते हैं और क्यों? इतना होते हुए भी इस संग्रह को अब तक उपलब्ध सभी संग्रहों से अधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त डॉ० भगवत मिश्र न सन् १९५४ में 'संत कवि रैदास और उनके पंथ' पर लखनऊ विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। उन्होंने रैदास के जीवन, चिन्तन तथा वाणी का तथ्यपूर्ण व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करके इस दिशा में पहला सम्बद्ध कार्य किया है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब के संतों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन' नामक शोध-प्रबन्ध बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में प्रस्तुत करते हुए इस कृति के लेखक ने भी रैदास की धार्मिक एवं सामाजिक गरिमा को लगभग २० वर्ष पूर्व प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया था। संत-साहित्य के परवर्ती कुछ अध्येताओं ने भी यत्र-तत्र रैदास एवं उनकी वाणी को अपने अध्ययन एवं समीक्षा का विषय बनाया है।

४

रैदास की विचारधारा

संतों की अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज होने के कारण मानवीय-चेतना की जिस गरिमा को लेकर चलती है वह चिन्तन से अधिक हृदय की रागात्मिकता वृत्ति से सम्बद्ध है। इसीलिए उनकी विचारधारा को किसी दार्शनिक सम्प्रदाय में आबद्ध करना उनके प्रति अन्याय है। इतना होते हुए भी ब्रह्म, जगत, जीव और उसके साध्य के प्रति उनकी क्या मान्यताएँ रहीं, उनका व्यवस्थित ज्ञान पाने का हमारा यह लघु प्रयास है। 'मंत्रदृष्टार:' (वेद मंत्रों को अन्तर्दृष्टि से देखने वाले—अर्थात् अनुभव करने वाले) ऋषियों की तरह इन संतों ने विशेषत: रैदास ने भी उस ब्रह्म का अनुभव किया था। उनकी यह अनुभूति ही वाणी में रूपायित हुई है।

रैदास ने जिस पतित-पावन एवं भक्त उद्धारक भगवान् का अनुभव किया है उसके गुणों का कथन बड़े-बड़े योगी भी नहीं कर सके। ज्ञान में निष्णात विद्वान् भी उसकी कथा नहीं कह सके। क्योंकि वह इन्द्रियातीत और एकमात्र वही न केवल सारी सृष्टि का स्रष्टा भी है अपितु इसका नियन्ता एवं स्वामी भी है। सच तो यह है कि सृष्टि के निमित्त और उपादान कारण स्वरूप उसने अपने-आपको ही सम्पूर्ण सृष्टि में प्रसारित किया है :

"एक ही एक अनेक होई, विसथरियो आन रे आन भरपूरि सोऊ।"
(आदि ग्रन्थ, पृष्ठ १२९२, पद २)

वस्तुत: रैदास के भक्त ने अनुभव किया था कि न केवल वह ग़रीब निवाज (ग़रीबों का रक्षक) है; अपितु वही मुक्ति का दाता भी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपनी शरण में आने वाले प्रत्येक भक्त को उसने नीचे से ऊँचा उठा दिया है :—

"नीचहूँ ऊँच करे।"

ऐसा करते हुए प्रभु ने जाति, कर्म, धर्म, वर्ण आदि किसी भी भेद को स्थान नहीं दिया। यह उसी की कृपा का परिणाम है कि अजामिल और पिंगला जैसे दुर्मति भी तर गए, तो रैदास का अन्तर्मन कहता है कि वह तुझे क्योंकर नहीं पार लगाएगा। इसी सन्दर्भ में रैदास ने नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना और सेन के भव-सागर पार करने की बात कही है :—

"नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना, सैन तरै।" (पृष्ठ ११०६ पद, १)

इस प्रकार रैदास ने जिस ब्रह्म का चित्रण किया है वह निर्गुण निराकार न होकर क्रियात्मक रूप से सगुण निराकार है और उसका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण शरणागत को गरिमा प्रदान करना है। सम्भवत: उसकी इस विचारधारा को देखकर ही कुछ विद्वानों ने उन्हें सगुण, साकार का पुजारी माना है। रैदास के आरम्भिक कुछ पदों में ऐसा भाव देखने को मिल सकता है, लेकिन श्रीगुरुग्रंथ-साहब में उल्लिखित तथा उनकी परवर्त्ती प्रामाणिक रचना के आधार पर उनके जिस ब्रह्म के दर्शन होते हैं, वह मूलत: निराकार ही है और भक्तजन उसे सगुण बना लेते हैं। इस सन्दर्भ में रैदास का सर्वाधिक प्रमुख स्वर यह ही है कि उसकी शरण में आए बिना जीव के लिए और कोई मार्ग नहीं है। और एकमात्र वही सच्चा शरणदाता है :—

"बिनु रघुनाथ शरनि काकि लीजै" (आदि ग्रन्थ, पृष्ठ ७१०, पद १)

रैदास के अनुसार यह सारी सृष्टि उसका अपना ही प्रसार-मात्र है। लेकिन यह शाश्वत नहीं है। यह तो शीघ्र ही झड़ जाने वाले कुशुम्भ फूल के रंग के समान क्षणिक है :—

"जैसा रंगु कुसुंभु का तैसा इहु संसारू।"

इतना ही नहीं, उनके विचार से तो यह संसार वस्तुत: सत्य भी नहीं है। इसकी तो रज्जू में सर्पवत् प्रतीति-मात्र होती है। इसीलिए उन्होंने सांसारिक सम्पत्ति के प्रति न तो वैयक्तिक जीवन में ही कोई ललक दिखाई और न ही लौकिकों को उसके प्रति प्रेरित किया। उनकी दृष्टि से यह संसार और सम्पूर्ण सांसारिक सम्पत्ति नश्वर है। इसलिए इस क्षणिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए सफल जीवन को क्योंकर नष्ट करें। संसार का यह व्यापार झूठा है। और वह अधिक देर तक स्थायी भी नहीं। इसलिए वास्तविक सुख की अपेक्षा दु:ख देने वाला भी है। अत: उसे प्राप्त करने का क्यों प्रयत्न करें। इस प्रकार जीव को नश्वर संसार के प्रति अनावश्यक रूप से अधिक आकर्षित होने से बचाने के प्रयत्न में उन्होंने सतर्क भी किया है।

रैदास ने जीव को परमात्मा का अंश स्वीकार किया है। इसलिए "सोई मुकुंद हमरा पित माता" कहकर उन्होंने उससे अपना सम्बन्ध भी स्पष्ट कर दिया

है। रैदास ने जीव और ब्रह्म के इस सम्बन्ध को वैयक्तिक साधना के माध्यम से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बार-बार यह कहा है कि वह तो प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में बैठकर उसे नियन्त्रित करता है, और वस्तुतः वही तो जीव का प्राण है। लेकिन अन्तर में स्थित कस्तूरी को न पहचानने वाले मृग की दशा लौकिक जीव की है। ज्योंही वह इसे पहचान जाता है तब किसी प्रकार की दुविधा नहीं रहती :—

जैसे कुरंक नहीं पाईओ भेदु,
तनि सुगंध ढूँढे प्रदेसु (११९६, पद १)

इस प्रकार रैदास ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रभु के बिना जीव का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। जीव के देह-धारण की सफलता इसी में है कि वह अपने में अन्तर्निहित उस प्रभु-ज्योति से आलोकित हो और उसे अनुभव करे, अन्यथा रैदास की शब्दावली में वह तो मात्र "माटी का पुतरा है"। वह भी भादों की खुम्भ की तरह है जिसके क्षण-भर भी स्थिर होने पर कोई विश्वास नहीं। रैदास ने देह का जैसा सार्थक रूपक बाँधा है उसमें विचारगत महिमा और काव्यगत गरिमा का अद्भुत मणिकांचन संयोग देखते ही बनता है :—

जल की भीति पवन का थंभा रकत बूंद का गारा
हाड मास नाड़ी को पिंजरू पंखी बसै बिचारा।
प्रानी किआ मेरा किआ तेरा जैसे तरवर पखि बसेरा। रहाउ ॥
राघव कंध उसारहु नींवा। साढें तीनि हाथ तेरी सींवा।
बके बाल पाग सिर डेरी। इहु तनु होइगो भसम की ढेरी ॥
ऊँचे मंदर सुंदर नारी। राम नाम बिनु बाजी हारी ॥
मेरी जाति कमीनी पाँति कमीनी ओछा जनमु हमारा।
तुम सरनागति राजा रामचंद कहि रविदास चमारा ॥

देह है ही क्या, यह तो मात्र जल की भीति है जिसमें पवन के खम्भे हैं। जिसे रक्त की बूंदों के गारे से चिन दिया गया है और तब नाड़ियों से युक्त माँस और हड्डियों का यह पिंजरा बन गया है जिसमें जीव-रूपी पक्षी निवास करता है और यह पक्षी पेड़ पर बसे हुए पक्षी की तरह कभी भी उड़ सकता है। इस देह के सौंदर्य, शक्ति एवं अन्यान्य गुणों पर घमण्ड करने वाले जीव को सतर्क करते हुए उन्होंने बताया है कि कितने ही महल बना लो, इस देह की सीमा तो साढ़े तीन हाथ से अधिक नहीं, और इसे कितना ही सजा लो, लेकिन यह तो अवसर आते ही भस्म की ढेरी हो जाएगी। इसकी सार्थकता तो इसी में है कि जीव एक-मात्र प्रभु की शरण में चला जाए और राम-नाम का आश्रय ले ले, अन्यथा वह जीवन की बाज़ी

हार चुका है। रैदास ने जितने सरल और सहज रूप में इतने गम्भीर और गहन विचार को इतनी प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति दी है जो अनायास ही शाश्वत बन गई है।

सांसारिक सम्बन्धों के वशीभूत मानव लौकिक जीवन के मोह में इतना आबद्ध हो जाता है कि वह जीवन के वास्तविक मूल्यों के प्रति जागृत नहीं हो पाता। रैदास ने क्रियात्मक कर्मण्य जीवन बिताया था और गृहस्थ को भोगा भी था। स्वतः उपयुक्त साधनों से श्रम करके आजीविका अर्जित भी की थी, लेकिन जीवन और जगत के प्रति उनकी दृष्टि निवृत्ति पर आधारित होकर भी प्रवृत्ति-मय थी। इस निवृत्ति की मूल चेतना ने उन्हें सांसारिक मोह से इतना कभी भी अभिभूत नहीं होने दिया, जिससे वे जीवन के सत्य और जगत की माया की खाई को न पाट पाते। यही कारण है कि अपने युग के मानव को जीवनगत सत्य का जो संदेश दिया, वह न केवल उनके लिए ही उपयोगी सिद्ध हुआ, अपितु देश और काल की सीमाओं को तोड़कर मानव-मात्र के लिए आज भी उपयोगी बना हुआ है और भावी संतति का भी मार्ग-दर्शन करता रहेगा।

ऐसे ही शाश्वत सत्य को सरलता और सहजता से स्पष्ट अभिव्यक्ति देने वाले रैदास के एक पद को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे हैं :—

ऊँचे मंदर साल रसाई। एक घरी फुनि रहनु होई॥
इहु तनु ऐसा जैसे घास की टाटी।
जलि गइयो घासु रलि गइयो माटी। रहाउ॥
भाई बंध कुटंब सहेरा। ओइ भी लागे काढु सवेरा।
घर की नारी उर हि तन लागी। उह तउ भूत भूतु करि भागी॥
कहि रविदासु सभै जगु लूटिया। हम तउ एक राम कहि छुटिआ॥

बड़े महलों में रहना कितना मोहक है लेकिन उसकी आज्ञा के बिना घड़ी भर भी और नहीं रहा जा सकता। यह देह तो ऐसी सूखी घास है जिसके जलते ही वह मिट्टी-भर रह जाती है। इतना ही नहीं, सभी भाई-बंधु, जिनका वह पालन-पोषण करता था, वह भी उसे घर से निकालने के लिए व्यग्र हो उठते हैं, और उस देह को सदा ही प्यार करने वाली नारी भी उसे भूत समझकर उससे दूर भाग खड़ी होती है। जगत की इस अवस्था को देखकर रैदास बहुत स्पष्ट ही घोषणा करते हैं, यह सारा संसार लुट गया है और राम का नाम लेकर मैं बच गया। सम्भवतः विश्व के सबसे बड़े सत्य को सबसे सरल ढँग से यहाँ अभिव्यक्ति मिली। इसीलिए वह मन में घर कर गया। जीवन का सत्य युवावस्था में मात्र विषयोपभोग करने में ही नहीं, अपितु हृदय से नाम अपनाने में है। युवावस्था समाप्त होने पर तथा असमर्थता आने पर भी तृष्णा तो समाप्त न होगी, लेकिन भगवत्

नाम से सम्बन्ध न जुड़ पाएगा और इस प्रकार जीव जीवन की सच्चाई से संबंधित न हो सकेगा।

रैदास की दृष्टि में सामान्य जीव से उत्कृष्ट कोटि का जीव साधु, भक्त और संत होता है। साधु का महत्त्व इसलिए है क्योंकि न केवल वह स्वतः लौकिक एषणाओं से ऊपर उठ गया है लेकिन जन-मानस को भी वह सत्मार्ग पर ले चलने में प्रयत्नशील है। वस्तुतः अनुभूति-परायण रैदास का विश्वास है कि साधु-संगति के बिना भगवान् के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता और बिना भाव के भक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भावहीन भक्ति का कोई मूल्य नहीं है :—

साध संगति बिनु भाउ नहीं उपजै।
भाव बिनु भगति होई न तेरि ॥ (पृ० ६६४, रैदास पद २)

इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्होंने साधु का महत्त्व प्रतिपादित किया है वहाँ दूसरी ओर भक्त को भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं बताया। उसका तो नाम, गाँव, ठाँव और कुटुंब सभी कुछ धन्य है, क्योंकि प्रभु की भक्ति में वह तल्लीन है और ऐसे महान् भक्त के सामने तो रैदास ने पंडित, शूरवीर, छत्रपति एवं राजा किसी को भी कुछ नहीं समझा और स्पष्ट ही कह दिया कि वे सब भक्त के मुकाबले में कहीं नहीं ठहरते। रैदास के अनुसार लौकिक मानव के लिए यदि किसी मनुष्य का आचरण अनुकरणीय है तो वह है एकमात्र संत का। इस प्रकार रैदास ने यह बात एकदम स्पष्ट कर दी कि यह जीवन सत्य है और सार्थक भी हो सकता है। सार्थक तभी हो सकता है जब जीव साधु की संगति करता हुआ भक्त से भक्ति की प्रेरणा लेता हुआ वैयक्तिक जीवन में संत का आचरण करे, तभी वह अव्यक्त शक्ति से अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है। रैदास ने स्पष्टतः कहा है—"संत अनंतहि अंतरु नांहि"

इससे बढ़कर संत को महत्त्व दिया भी क्या जा सकता है!

रैदास ने जीवन में न केवल इस सत्य को अनुभव ही किया था अपितु वैयक्तिक जीवन में भोगा भी था इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति में सत्य का बल है। उसे नीच जाति में उत्पन्न होने का बोध सदा ही रहा है और भगवत्-कृपा से ही वह इस हीनता की ग्रंथि से उभर सका है। कृतज्ञतापूर्वक इसे स्वीकार करने में कहीं भूल नहीं की। अपने को निम्नतर बताकर भी उसे पता है कि उस उच्चतम ने अपनी शरण में आने पर हमें ठुकराया नहीं। हम अवगुणों की खान हैं तो प्रभु उतने ही बड़े उपकारी। सत्संगति के कारण निर्गुण हमें भी प्रभु - चंदन ने अपनी सुगंध प्रदान की। इस सबका आधार रैदास का प्रेमपूर्ण सेवाभाव है :—

तुम चंदन हम इरंड बापुरे संगी तुमारे बासा।
नीच रुख ते ऊँच भए हैं गंध सुगंध निवासा।
माधउ सतसंगति सरनि तुम्हारी हम अउगन तुम्ह उपकारी। रहाउ ॥

तुम मखतूल सुपेद सपीअल हम बपुरे जस कीरा।
सतसंगति मिलि रहीऐ माधउ जैस मधुप मखीरा।
जाती ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा।
राजा राम की सेव न कीनी कहि रविदास चमारा ॥

रैदास के जीवन की सारी साधना मूलतः सेवा की ही साधना है। उसका अहम् कभी उद्वेलित नहीं हुआ। उसके व्यक्तित्व में निखार आता गया और वह प्रखर होता गया। विनयिता उसका आभूषण बनी रही और अपने आप को प्रभु को समर्पित करने में उसे देर न लगी। इसीलिए वह उसके "प्रेम की जेवरी" में बँधा हुआ उसका अनुकरण करता चलता है, क्योंकि रैदास ने अनुभव कर लिया था कि बहुत जन्मों से बिछुड़ने के बाद अब यह जन्म उसने पूर्णतः प्रभु में लगा देना है :—

'बहुत जनम बिछुरे माधउ इहु जनमु तुम्हारे लेखे' (694 रवि :)

इस प्रकार प्रभु-भक्ति के पथ पर बढ़ते हुए रैदास ने भक्त-उद्धारक भगवान् को पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। उनकी इन्द्रियाँ लौकिक होकर भी लौकिक नहीं थीं। इसीलिए वे सभी इन्द्रियों के माध्यम से एकमात्र उसी को समर्पित हैं :—

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो सुवन बानी सुजसु पूरि राखउ।
मन सु मधु-करु करउ चरन हिरदे धरउ रसन अमृत राम नाम भाखउ ॥

नीचतम जाति में जन्म लेकर उच्चतम संस्कार विकसित करने वाले रैदास अपने युग के महामानव बन गए थे। किसी भी युग का महामानव जन-समाज को अपने जीवन लक्ष्य के प्रति जागरूक करता है, अपने क्रियात्मक कर्मण्य जीवन और आचरण के माध्यम से। राजनैतिक अत्याचार तथा सामाजिक दुर्व्यवहार के पाटों के बीच में पिसती हुई जनता को उस युग में छीपा नामदेव, जुलाहा कबीर, नाई सैन, जाट धन्ना तथा इन सबसे बढ़कर चमार रैदास ने जगत और जीवन के सत्यों के प्रति जागरूक किया था। हमें पता था सगल भुवन के नायक का एक क्षण भी दर्शन हो जाए, तो मानव का मन पवित्र हो जाता है। और उससे जन्म-जन्मान्तर के बंधन कट जाते हैं तब जीव का यम से कोई काम नहीं रहता और वह अयोनी होकर अमर-पद को पा लेता है। वस्तुतः जीव का साध्य यही है कि वह भक्ति में तल्लीन होकर अपने अहम् को उस अव्यक्त शक्ति में इस प्रकार विलीन कर दे, जिससे सभी प्रकार का द्वैत समाप्त हो जाए और व्यक्त और अव्यक्त में कोई अंतर न रह जाए।

इसी को रैदास ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है :—

जब हम होते तब तू नाहीं अब तूही मैं नाहीं।
अनल अगम जैसे लहरि भइओदधि जल केवल जल माहीं ॥(पृ० 657 रैदास)

लहर समुद्र में मिलकर जब अपनी सत्ता ही खो देती है तब द्वैत भावना कैसी ? अपनी अनुभूति के माध्यम से जीव अब अपने अंतर में अव्यक्त को अनुभव कर लेता है और इस अव्यक्त की आत्मीयता में ही उसके अपने व्यक्तित्व का ही तिरोहरण हो जाता है। तब वह अपने दोनों में से केवल एक की सत्ता को ही अनुभव करता है। ब्रह्मानुभूति की यह चरमावस्था है। कबीर ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की थी। और जब इस सिद्ध अवस्था की साधनावस्था में रैदास अपने प्रभु की अनन्य भक्ति में सभी लौकिक सम्बन्धों के माध्यम से अपनी आत्मीयता को भावात्मक अभिव्यक्ति देते हैं तब देखते ही बनता है। गिरिवर से मोहित वह मोर है, तो चाँद का अनुरक्त चकोर। भक्त को अपनी भक्ति पर विश्वास है कि प्रभु भी उससे सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। इसलिए उसे भी उनसे अलग होकर अपने आप को किसी से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। उस दीए की वह बत्ती बन ,जाते हैं और उस तीर्थ के यात्री। उनसे तो एकमात्र सच्ची प्रीति जोड़ी है। जहाँ कहीं जिस रूप में भी जाता है वहाँ उसी रूप में केवल उसी की सेवा करता है, क्योंकि वही तो उसका एकमात्र देव है। वस्तुत: उसी के भजन से तो यम का फंदा कटा है। इसलिए रैदास के जीवन की सार्थकता उसी की भक्ति गाने में है। इसे रैदास की भावात्मक, सरस, संगीतात्मक शब्दावली में हम प्रस्तुत करते हैं :—

जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा ।।
जउ तुम चंद तउ हम भये हैं चकोरा ।।
माधवे तुम न तोरहु तउ हम नहीं तोरहि ।।
तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहि ।। रहाउ ।
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती ।।
जउ तुम तीरथ तउ हम जाती ।।
साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी ।।
तुम सिउ जोरि अवर सगि तोरी ।।
जह-जह जाउ तहा तेरी सेवा ।।
तुम सो ठाकुर अउरू न देवा ।।
तुमरे भजन कटहि जम फांसा ।।
भगति हेति गावै रविदासा ।। (पृ० 659, रैदास 5)

इससे स्पष्ट है कि रैदास ने भक्ति को ही जीवन का साध्य और साधन दोनों ही स्वीकार किया है। प्रेम की विह्वलता के बिना भगवान् के प्रति आन्तरिक भाव नहीं उत्पन्न होता और उस भाव के बिना भक्ति नहीं। परन्तु जीव यदि एक बार उसके "प्रेम की जेवरी" में बँध जाए, तो उससे जीवन और जगत् के सभी मधुरतम सम्बन्ध जोड़ लेता है, जिनके माध्यम से उन दोनों का अंतर समाप्त हो जाता है

यदि ऐसा नहीं हो पाता, तो वह उसके विरह की विह्वलता में अनंतकाल तक तड़पता रहता है और उस तड़पन के बाद भी उसे पाने का एकमात्र साधन है, उसकी शरण में चले जाना। उसकी शरण में जाने के लिए रैदास अन्यान्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं। रैदास ने मूलतः सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जन-मानस की सेवा के द्वारा वे प्रभु तक पहुँचने में प्रयत्नशील हैं। सत्संगति उसमें सहायक सिद्ध होती है। सत्कर्म उनकी चेतना को जगाते हैं तब सत्गुरु अपनी आन्तरिक ज्योति के आलोक से उन्हें आलोकित करता है और रैदास-जैसा लोहा भी उनके स्पर्श से कंचन में परिणत हो सकता है। इसीलिए रैदास उस समय तक दु:खी एवं उदास थे, जब तक उन्हें ऐसे सत्गुरु का स्पर्श और आलोक नहीं मिला और यह तभी मिलता है जब भगवत्-कृपा हो। वस्तुत रैदास की सारी चेतना भगवनोन्मुखी है। उसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि रैदास-जैसा कृतज्ञ व्यक्ति भगवान् के भक्त उद्धारक रूप को कभी नहीं भूल सकता। सारे विश्व के विषाक्त वातावरण को पार करने के लिए उसका एकमात्र साधन यह भगवत्-कृपा ही रही है। उसके जीवन के आरम्भ से लेकर अंत तक सभी लौकिक एवं अलौकिक विघ्न-बाधाओं को दूर करने का श्रेय जिस शक्ति को दिया जा सकता है, वह यही भगवत्-कृपा है। जीवन के सभी मोड़ों पर रैदास इससे पूर्णतया अभिभूत रहे हैं। इस प्रकार रैदास की साध्य-प्राप्ति की यात्रा में संभवतः यह सर्वाधिक सशक्त साधन प्रतीत होती है। सम्पूर्ण मध्ययुग में भी इस भगवत्-कृपा को ही सभी संतों ने एक स्वर से भवतारण का सर्वप्रमुख साधन स्वीकार किया है।

कण्टकाकीर्ण जीवन-पथ के अन्यान्य कंटकों को पार कर साधक जिस पथ का पथिक होता है वह उसके लौकिक उन्मेष और अध्यात्मिक प्रगति का साधन है, लेकिन अवरोधक शक्तियाँ भी कम सशक्त नहीं। रैदास ने भगवान् की शरण में जाते ही स्पष्ट कह दिया था :—"मनु माइया के हाथि बिकानऊ" (710 पद।) कि मेरा मन तो माया के हाथ बिक चुका है। और उस माया ने न केवल विवेक के दीप को मलिन्द कर दिया है, अपितु ठीक से चिन्तन की शक्ति ही समाप्त करके अविद्यापूर्ण बना दिया है। इस माया के कारण एक ही इन्द्रिय के बस में हुआ प्राणी सर्वनाश को प्राप्त करता है और यदि कहीं भूल से वह पाँचों इन्द्रियों का शिकार हो जाए, तब उसकी रक्षा की तो आशा ही कहाँ रह जाती है :—

> मृग मीन भृंग पतंग कुंचर एक दोख बिनास।
> पंच दोख असाध जामहि ताकी केतक आस।
> माधो अविदिआ हित कीन। विवेक दीप मलीन॥ (पृ० 486 पद।)

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ तो दुर्गुणों के माध्यम से जीव का पूर्णतया सत्यानाश कर देती हैं, अकेले काम के ही प्रभाव से देवी—देवता तक भी न बच सके। इन्द्र,

अहल्या पर मोहित हुए; तो ब्रह्मा अपनी पुत्री के ही आकर्षण में बँधकर पतित हुए :—

गौतम नारि उमापति स्वामी।
सीसु घरनि सहस भग गामी ।। (पृ० 710 पद ।)

इस माया ने ही कंचन और कामिनी के प्रभाव से जीव को भक्ति-पथ का पथिक न बनने दिया। जन-सामान्य कभी किसी इन्द्रिय के माध्यम से और कभी किसी इन्द्रिय के माध्यम से इसका शिकार होकर अपने अहंकार को इतना उदीप्त कर लेता है कि उसके नशे में वह सत्य और औचित्य से विमुख ही रहता है। कभी लौकिक सम्पत्ति और समृद्धि के कारण उसका अहं जागृत होता है तो कभी पुत्र और कलत्र के कारण। रैदास ने सम्पूर्ण लौकिक वैभव के महत्त्व को तथा लौकिक सम्बन्धों के मोह को झूठा व्यापार एवं "माटी का पुतरा" कहकर क्षण-भर में समाप्त कर दिया। रैदास ने जीवनगत सत्य को जिस मधुरिमा से अनुभव किया था, उसकी सहजता से उसने उसे ऐसी ग्राह्य एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति दी, कि वह अनायास ही जन-मानस के अन्तर्मन को बींधती चली आ रही है।

इस प्रकार रैदास की दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा का समाहार करते हुए हम कह सकते हैं कि संत रैदास ने न केवल देह, मन, बुद्धि, हृदय की अन्यान्य वृत्तियों एवं भाव-दशाओं पर विजय पा ली थी, अपितु उसने आत्मा के सत्य को भी अनुभव कर लिया था, इसीलिए उनका ब्रह्म, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार की चेतना से अतीत था। इन्द्रियातीत वह केवल अनुभूति-गम्य था। मृत्युलोक के सभी प्राणी अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भी न उसे व्यक्त कर सकते हैं और न ही ग्रहण, वह स्वतः ही सारी सृष्टि में प्रसारित हुआ है। जीवनमात्र का वही आधार है और वही उसका उद्धारक। जगत् और जीवन को सत्य स्वीकार करते हुए रैदास ने सत्संगति, सत्कर्म, सत्गुण एवं सत्गुरु के माध्यम से भगवत्-कृपा की प्राप्ति को ही जीवन का सबसे बड़ा सत्य स्वीकार किया है। उसी से जीव की सब विपदाएँ समाप्त हो जाती हैं। जीवन की सब विषमताओं को लाँघकर सुख, आनन्द और आह्लाद का पथिक बनने के लिए सेवा और भक्ति के माध्यम से पूर्ण आत्म-समर्पण को ही रैदास ने एक-मात्र साधना स्वीकार किया है। इसीलिए रैदास ने कोई उपदेश नहीं दिया, अपितु अपने क्रियात्मक कर्मण्य आचरण-परायण जीवन के माध्यम से एक जीवन-संदेश छोड़ा है, यह कहें तो अधिक उपयुक्त होगा और हम उनकी जीवन एवं चिन्तन-पद्धति के साथ न्याय कर सकेंगे। जिसकी कथनी और करनी में ऐक्य का विधान है, यही उनकी आचरणगत विचारधारा की गरिमा है।

५

रैदास की सामाजिक चेतना

संस्कृति जन-जीवन के माध्यम से समाज में रूपायित होती है। किसी भी युग के सामाजिक मूल्यों को जानने के लिए जन-जीवन का अध्ययन आवश्यक होता है। समसामयिक साहित्य अपने युग के जीवन का दर्पण होता है। कवि की संवेदनाओं से सम्पृक्त उसकी अभिव्यक्ति युग को प्रतिबिम्बित करने में सार्थक सिद्ध होती है। यदि कवि समाज और अपने प्रति ईमानदार रहा हो, तब तो यह अभिव्यक्ति एकदम सत्य और प्रभावोत्पादक होती है। रैदास की सामाजिक चेतना उनके व्यक्तित्व की इस गरिमा को लिए हुए है।

भारतीय ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था ने एक युग से अन्त्यजों को ऐसा पद-दलित किया था कि वे मानवीय धरातल पर खड़े होने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। स्वदेशियों की इस विगर्हणा के साथ ही मध्ययुग में यह अंत्यज विदेशियों के पराभव के शिकार भी हुए। ऐसी अवस्था में एक ओर हिन्दू धर्म के शिष्ट अंग भी न रह सके और दूसरी ओर उसकी सामाजिक चेतना से अपने आप को अभिभूत भी न कर सके। विदेशियों ने इसका अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। लेकिन स्वाभिमानी इन व्यक्तियों ने अपनी परम्परा को त्यागने में विशेष आग्रह से काम लिया। लौकिक सुविधा और भौतिक समृद्धि की आकाँक्षा इन्हें बहुतायत से आकर्षित न कर सकी। इसका मूल कारण मध्ययुगीन सन्त चेतना थी। रैदास जिसके जगमगाते माणिक्य थे।

रैदास के जीवन की सबसे बड़ी गरिमा यह थी कि उन्होंने तथाकथित ही चमार-जाति में जन्म लिया था और जीवन-भर आन्तरिक नैतिक बल और स्वाभिमान से अपने चमारत्व को उद्घोषित करते रहे। उदात्त मानवीय संवेदना से अनुप्राणित होने के कारण उन्होंने अपनी जाति की हीनता-ग्रंथि को उखाड़ फेंकने के लिए जिस शक्ति, सौंदर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया है वह अभिनन्दनीय है। सारे समाज से उपेक्षित होकर भी वे उपेक्षित न रहे। इसका

मूल कारण यही था कि उनके पास आस्था और विश्वास का बल था, जिसके सामने आडम्बरवादी थोथा ब्राह्मण समाज टिक न सका। रैदास ने बारम्बार अपनी जाति की घोषणा करके अपने युग के धर्म के ठेकेदारों को यह समझा दिया था कि मात्र जन्म से कोई भी व्यक्ति उच्च या नीच नहीं हो सकता। उनका यह स्वर सत्य की अनुभूति पर आधारित होने के कारण ब्राह्मणों के अन्तर्मन में घर कर गया था और इसका विरोध करने की उनकी शक्ति समाप्त-प्राय थी, इसलिए जन-समाज के साथ-साथ उन्हें भी रैदास की वाणी को विवश होकर सुनना पड़ा।

वह युग मूलतः धर्म से अनुप्राणित था। धार्मिक चेतना ही सामाजिक मूल्यों का बहुतायत से निर्धारण एवं नियन्त्रण करती थी। इसलिए धार्मिक क्षेत्र में भी रैदास ने जो दोष देखे, उनके निवारण का सहज प्रयत्न भी किया। मूलतः निर्गुण और निराकार में विश्वासी रैदास साकार में विश्वास जतलाने वाले तथाकथित समाज के अधिकारी ब्राह्मणों की आडम्बर एवं आवरण-प्रियता को न सह सके। रैदास ने कबीर की तरह उसपर तीखे प्रहार तो नहीं किए, लेकिन जिन मर्मस्पर्शी मधुर व्यंग्यों का उन्होंने आश्रय लिया, वे संभवतः कबीर के आक्रामक प्रहारों से भी अधिक घातक सिद्ध हुए। आडम्बरपरायण पुजारियों की सारी पूजा ही व्यर्थ है क्योंकि वह पवित्र चेतना से अभिमंडित नहीं। इस पूजा में जिस दूध का वह प्रयोग करते हैं, उसे तो थन चूंघते हुए बछड़ा ही जूठा कर चुका है। फूल को भौंरे ने ही उच्छिष्ट कर दिया है। पानी को मछली ने बिगाड़ दिया है। अब किसी पवित्र फूल एवं सामग्री के अभाव में भगवान् की पूजा कैसे की जाए ? इस प्रकार अपवित्र तत्त्वों से पवित्र भगवान् की पूजा कैसे हो ? यह रैदास की समझ से बाहर है :—

दूधु त बछरै थनहु बिटारिओ ।
फूलु भवरि जलु मीनि बिगारिओ ।
माई गोविन्द पूजा कहा लै चरावउ ।
अवरु न फूलु अनूपु न पावउ ।। रहाउ ।।

इस प्रकार रैदास ने पूजा की औपचारिकता का कितना सहज और स्वाभाविक विरोध कर पुजारी को सचेत किया कि औपचारिकताओं का नहीं, मूल भाव का महत्त्व है। जैसा भगवान् पवित्र है वैसे ही पवित्र हृदय की भक्ति को वह बिना किसी औपचारिकता के भी स्वीकार कर लेता है। अतः जन-समाज को इस आडम्बर में भरमाने की आवश्यकता नहीं और इस अंतःकरण की 'पवित्रता के लिए न उसे अड़सठ तीर्थों में नहाने की आवश्यकता है और न द्वादश शिला की पूजा करने की। क्योंकि ऐसा करके भी यदि वह साधु की निन्दा करता रहेगा, तो नरकगामी होगा। इतना ही नहीं, चाहे वह सम्पूर्ण स्मृतियों का स्मरण करता रहे,

और चाहे यश प्राप्ति के अन्य औपचारिक कार्य करता रहे। इन सबसे भी उसका अन्तमन पवित्र न होगा, जब तक कि वह निन्दा आदि दुर्गुणों को त्यागकर वैयक्तिक आचरणगत पवित्रता को नहीं अपनाता और ऐसा निन्दक एक-मात्र नरक को ही प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि वह पाप की कालिमा से पुता हुआ है :—

जे ओहु अठिसठि तीरथ नहावै।
जे ओहु दुआदस सिला पुजावै।
जे ओहु कूप तटा दवावै।
करै निदं सभ बिरथा जावै।
साधू का निदंकु कैसे तरै।
सरपर जानहु नरक ही परै। रहाउ ॥
जे ओहु ग्रहन करै कुलखेति।
अरपै नारि सीगर समेति।
सगली सिमृति स्रवनी सुनै।
करें निद कवनै नहीं गुनै।
जे ओहु अनिक प्रसाद करावें।
भूमिदान सोभा मंडपि पावें।
अपना बिगरि बिराना सांढ़ै
करै निद बहु जोनी हाढ़ै।
निदा कहा करहु संसारा
निदक का परगटि पाहारा
निंदक सोधि साधि बीचारिआ।
कहु रविदास पापी नरकि सिधारिआ ॥ (पृ० ८७५, रवि २)

इससे स्पष्ट है कि रैदास ने केवल बाह्याडम्बर प्रधान औपचारिक पूजा करने वाले पुजारियों का ही विरोध नहीं किया, अपितु अन्यान्य तीर्थों में नहाकर अथवा देवी-देवताओं की पूजा करके अपने को आचरण की दृष्टि से पवित्र प्रयत्न-शील सामाजिकों को भी सतर्क किया है कि पवित्रता आचरणगत गरिमा से आ सकती है, भावहीन, बाह्य औपचारिक मान्यताओं से नहीं। समाज में आचरण का महत्त्व स्थापित करने के लिए धार्मिक नेताओं पर उनका प्रहार बड़ा सशक्त सिद्ध हुआ, संभवतः यही कारण था कि जब धर्माधीश इन लोगों को रैदास की आचरणगत गरिमामय नैतिक शक्ति का बोध हुआ तब उन्होंने ही जाकर इस रैदास को प्रणाम किया था।

तथाकथित नीचतम जाति में उद्भूत और उच्चतम संस्कारों से अभिमंडित रैदास ने सामाजिक क्षेत्र में जो सबसे बड़ी क्रान्ति की, वह यही कि युग-युग से

चले आने वाले अस्पृश्य जन-समाज को उन्होंने नैतिकता का वह सम्बल प्रदान किया, जिससे जन-सामान्य के मध्य वे खड़े हो सके। अन्यान्य तथाकथित निम्न जातियों में उद्भूत छीपा, जुलाहा, नाई, कसाई आदि संतों ने अपने पवित्र उज्ज्वल और कर्मण्य जीवन से यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी जाति में जन्म लेने से व्यक्ति ऊँचा और नीचा नहीं हो सकता। उसकी गरिमा की कसौटी उसका चिंतन, आचरण और उसके कर्म ही हैं। इसीलिए मध्ययुगीन भारत के सबसे प्रभावोत्पादक नेता नामदेव, कबीर, सैन, साधना और रैदास हुए हैं। न तो उस युग के राजनैतिक नेता समाज के अग्रणी बन सके और न ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न, धनाढ्य इस पद को ग्रहण कर सके। आडम्बरवादी पुजारियों तथा पोंगा आचरणहीन ब्राह्मणों की दुर्दशा तो हम पहले ही देख चुके हैं। इस प्रकार जन्म, जाति, कर्म, व्यवसाय आदि का न तो प्रेमाभक्ति से ही कोई सम्बन्ध जुड़ सका और न समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले व्यक्ति से। उस युग में निवृत्ति पर आधारित प्रवृत्तिमय जीवन बिताने वाला भावपूर्ण भक्त ही समाज का सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति था। उसकी तुलना में शूरवीर, छत्रपति, राजा कोई भी खड़ा नहीं हो सकता था क्योंकि पवित्र होकर न वह केवल भवसागर से पार हो जाता था अपितु जन-सामान्य का भी उद्धार कर देता था। इसलिए उसके नाम, गाँव और काम सभी को रैदास ने धन्य बताया है :—

जिह कुल साधु बैसनो होई।
बरन अवरन रंकु नहीं ईसरू बिमल बासु जानीऐ जग सोई। रहाउ ॥
ब्रह्मन बैस सूद अरु ख्यत्री डोम चंडार मलेछ मन सोई।
होइ पुनीत भगवंत भजत ते आपु तारि तारे कुल दोइ।
धंनि सु गाउ धनि सो ठाउ धनि पुनीत कुटंब सभ लोइ।
जिनि पीआ सार रसु तजे आन रस होई रस मगन डारे बिखु खोई।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरु न कोइ।
जैसे पुरैन पात रहै जल समीप भनि रविदास जनमें जगि ओइ ॥

(पृ० ८५८, रवि २)

मध्ययुग के विख्यात चमार रैदास ने अपने कुल, जाति और जन्म पर जो स्वाभिमान प्रगटाया है वह अद्भुत है। आचरण और कर्म की गरिमा का केवल उन्होंने उद्घोष नहीं किया, अपितु उसके माध्यम से अपने जीवन को महिमा मंडित करके मध्ययुगीन सामाजिक चेतना को ऐसी नवीन दिशा दी, जिससे न केवल वह युग ही आलोकित हुआ, अपितु परवर्ती भारतीय समाज आज भी प्रभावित होता चला आ रहा है। आर्थिक सम्पन्नता को भी अनावश्यक महत्त्व न देकर रैदास ने उचित साधनों से आजीविका अर्जित करने के महत्त्व को प्रतिपादित किया। इस

प्रकार समाज में सम्भ्रान्त नागरिक के मूल्य ही बदल दिये। उस युग के सर्वाधिक मान्य व्यक्ति वे ही बन सके, जिनका जीवन वैयक्तिक आचरण की पवित्रता, सामाजिक लोक-कल्याण की भावना, धार्मिक प्रेमपरायणा भक्ति तथा आध्यात्मिक एकात्मिक-साधना से परिपूर्ण था। रैदास की यह सामाजिक-क्रान्ति अपने युग को उनकी अविस्मरणीय देन है।

६

साधना के आयाम

संतों की विचारधारा दर्शन के क्षेत्र में भारतीय परम्परा से घनिष्टता के साथ जुड़ी हुई थी और नैतिक धरातल पर उन्होंने अपनी चेतना समकालीन परिस्थितियों से पाई थी। इसलिए इस विचारधारा में व्यावहारिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया गया। इन संतों ने यह गम्भीरता से अनुभव किया था कि धर्म के नाम प्रचलित अंधविश्वास, आडम्बर, कर्म-कांड सर्वथा निरर्थक हैं। इनका पालन करने में इनको तर्क-बुद्धि का समर्थन नहीं मिलता था। फलतः इन दिखावों और छलावों का इन संतों ने प्रखर विरोध किया था। योग और वेदान्त की मान्यताओं के सहारे प्रचलित हठयोगी साधना-पद्धति में भी इनकी कोई रुचि न थी। इन संतों ने साधना का सरलीकरण कर डाला। अभी तक योग और भक्ति में एक अस्वाभाविक विरोध पनपता आ रहा था। इन लोगों ने उस मिथ्या विरोध को समाप्त कर भक्ति-मूलक साधना में अपना विश्वास व्यक्त किया। यह सरलीकरण और सहजीकरण साधना को नाम-स्मरण तक खींच ले आया। रैदास ने भी कबीर, नामदेव आदि संतों के समान इस नई साधना-पद्धति को हृदय से स्वीकार किया। इन संतों की तुलना में रैदास की साधना अधिक भावुकतामयी है, इसमें खंडन और आलोचना की प्रवृत्ति भी कम है।

ये संत बहु-पठ न थे। उनका ज्ञान सत्संग एवं लौकिक अनुभव का प्रतिफल था। अतएव अपने ज्ञान की प्यास को बुझाने के लिए ये संत किसी योग्य गुरु की खोज में निरन्तर लगे रहे। यदि इन्हें कोई गुरु मिल गया, तो इन्होंने उसका बहुत अधिक आदर किया। यही कारण है कि इन संत कवियों की वाणी में गुरु-महिमा तथा सत्संग-महिमा का स्वर प्रबल है। ये संत आचरण की पवित्रता के प्रति विशेष जागरूक थे। यही उनकी आध्यात्मिक साधना का केन्द्र भी थी। एक ओर सद्‌गुणों के विकास का मार्ग था और दूसरी ओर दुर्गुणों की समाप्ति की पद्धति थी। इन दोनों विधियों से इन संतों ने अपने आचरण को पवित्र बनाने का प्रयास

किया। रैदास की साधना में भी ये बातें विशेष महत्त्व की हैं। सत्संग एव श्रेष्ठ गुणों के पुजारी रैदास की साधना अपने उन्नयन की साधना थी।

रैदास, एक साधक के रूप में, भक्ति-भाव के विशेप आग्रही हैं। उन्होंने कबीर की भाँति बाहरी आडम्बर एवं दिखावे का प्रखरता के साथ खंडन तो नहीं किया है, किंतु वे इससे सहमत भी नहीं हैं। उनका विश्वास है कि भक्ति से रहित बाहरी आडम्बर निरर्थक है। उनका विश्वास है कि जो व्यक्ति हृदय से भगवान् के प्रति समर्पित नहीं है, केवल कर्म-कांड, तीर्थयात्रा, जप, तप आदि पर ही विश्वास करते हैं उनकी मुक्ति असम्भव है। उन्हें अवश्य ही यमपुर को जाना होगा :—

अन्तरगति राँचे नहीं, बाहर करै उजास।
ते नर जमपुर जाहिंगे, भाषै संत रैदास।।

रैदास कर्मकांड को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। उनकी आस्था उस धर्म एवं साधना पर नहीं है, जो केवल दिखावा है। इसीलिए वे मूर्ति-पूजा, यज्ञ, पुराण-कथा आदि की भी उपेक्षा करते हैं। उसकी दृष्टि में ईश्वर कर्मा है, सर्वव्यापक है, अन्तर्यामी है तथा भक्ति से प्रसन्न होकर दीन-दलितों का उद्धार करने वाला है। ऐसे ईश्वर को प्राप्त करने के लिए वे भक्ति को छोड़कर अन्य कोई साधन उचित नहीं मानते। वे अपनी साधना में विवेक को विशेष महत्त्व देते हैं। यह कर्मकांड तथा बाह्याडम्बर विवेक से समर्थित नहीं होता, इसलिए रैदास इसकी निंदा करते हैं। उनका विचार है कि भगवद्प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रेममयी भक्ति ही है।

रैदास ने सदाचरण के लिए काम, क्रोध, लोभ, मत्सर (जलन) आदि को भी त्याज्य माना है। उनका विश्वास है कि ये दुर्गुण ही व्यक्ति को भगवान् से दूर करते हैं। इनको भी दूर तभी किया जा सकता है, जब व्यक्ति के मन में भगवान् की भक्ति का उदय हो। वास्तव में, रैदास आन्तरिक साधना के पक्षधर हैं। इस आन्तरिक साधना के सामने उन्होंने बाहरी आडम्बर, काषाय वस्त्रों को धारण करना, योग की साधना-पद्धति, व्रत, जप आदि को तुच्छ माना है। रैदास की साधना की यह विशेषता है कि उसमें ज्ञान और भक्ति का कहीं पर भी विरोध नहीं है। उन्होंने कहीं पर अपने अज्ञान पर क्षोभ व्यक्त किया है, और कहीं पर ज्ञान के उदय से जीव की मुक्ति की कामना की है। कहीं पर वे योग की आंतरिक साधना-पद्धति की शब्दावली का उपयोग कर यौगिक साधना का आभास देते हैं, तो कहीं पर वे भक्ति की तीव्रता का प्रकाशन करते हुए जान पड़ते हैं। उनकी भक्ति में आत्मानुभूति है, तल्लीनता है, समर्पण है तथा आत्मनिवेदन है। इन सभी स्वरों में प्रधानता भक्ति-भाव से पूर्ण हृदय की व्याकुलता, भावुकता, आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण की है।

रैदास मूलतः अपने आचरण में संत और साधना में भक्त थे। उनकी भक्ति सरल और सहज है। उसमें न तो योग-मार्ग की जटिलता है और न भक्ति का शास्त्रीय विधान। इसमें शास्त्रीयता की अपेक्षा अनुभूति की तीव्रता अधिक है। भक्ति के प्रति उनकी आस्था इतनी अधिक थी कि उन्होंने भक्त को ही सर्वोपरि मान लिया। उन्हें विश्वास था कि भक्ति के द्वारा अनेक पापियों का उद्धार हुआ है। भक्ति को वे सामाजिक प्रतिष्ठा तक देने लगे थे। उनका विश्वास था कि जिस घर में भगवान् का भक्त जन्म लेता है, उसकी जाति अपने ही आप ऊँची हो जाती है। रैदास ने भक्ति को दीन-दलितों के सामाजिक अभ्युदय का साधन बना दिया था। उनकी स्वीकारोक्ति है कि चमारों की जाति में जन्म लेने पर भी विप्र उनको दंडवत प्रणाम करते हैं। इस प्रकार रैदास ने भक्ति को भगवद्-प्राप्ति का ऐसा साधन माना, जिसमें भक्त की भावुकता, योगियों का संयम और ज्ञान तथा सामाजिक चिन्तक का समाज-दर्शन विद्यमान है।

रैदास ने भक्ति के निर्गुण रूप को ही अपनाया है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति सगुण भक्ति की तन्मयता एवं माधुरी को लिये हुए है। शास्त्रों में इसी निर्गुण या परा-भक्ति के एक ऐसे रूप की कल्पना की गई है, जिसमें प्रेम की स्थिति केन्द्रीय है। इसे प्रेमाभक्ति नाम दिया जाता है। रैदास भी वस्तुतः इसी प्रेमाभक्ति से अनुगत थे। रैदास की वाणी से प्रकट है कि वे भक्ति में प्रेम को ही प्रमुखता देते हैं। इस प्रेम के आवेग में रैदास अनेक प्रकार से प्रभु की आराधना करते हैं। कभी तो वे भगवान् की आराधना में अपने को पूरी तरह से असमर्थ पाते हैं, और कभी वे भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त सामग्री नहीं पाते हैं। सर्वान्त में, विवश होकर आत्मसमर्पण ही कर देते हैं। रैदास की इस प्रेमाभक्ति का आधार है सम्बन्ध-भावना, जो गिरि-मयूर, चन्द्र-चकोर आदि उपमाओं के द्वारा प्रकट हुई है। इन सम्बन्धों के द्वारा ही वे अपने को प्रभु के निकट पाते हैं और संसार के संत्रास से मुक्ति का अनुभव करते हैं। अन्ततः रैदास भक्ति के चरमोत्कर्ष में अपने को प्रभु में लीन करते हुए प्रतीत होते हैं।

रैदास रहस्यवादियों की भाँति अपने प्रभु को एक सर्वव्यापक, पूर्ण, सर्वज्ञ तथा पूर्णकाम मानते हैं। उनकी साधना में योग का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत आ गया है। सिद्धों और नाथों की परम्परा का प्रभाव इन संत-कवियों पर भी पड़ा था। उस प्रभाव को भक्ति के अनुकूल बनाकर इन संतों ने अपनी भक्ति की साधना को यौगिक अभिव्यक्ति दी है। सहज, शून्य, षट्कर्म, नाद, बिन्दु, गगन-मंडल, मन, पवन आदि यौगिक प्रतीकों का प्रयोग रैदास ने भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए किया है। स्मरणीय है कि ऐसे पद 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में बहुत कम संकलित हैं। उनके काव्य में भावात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। रैदास ने इस प्रकार के भाव को अभिव्यक्त करने के लिए पूर्ण आत्म-समर्पण की बात कही

है। वे कहीं पर अपने प्रभु को अनिवर्चनीय मानते हैं और कहीं-कहीं पर उसकी अनुभूति के आनन्द को भी अव्याख्येय समझते हैं। रैदास ने प्रभु से अपने सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए प्राय: प्रिय और प्रेयसी के रूपक को अपनाया है। उनकी भक्ति में प्रिय-मिलन की विकट व्याकुलता है। वे यह मानकर चलते हैं कि प्रभु से उनका विछोह उनके अपने दुष्कर्मों के कारण हुआ है। उनके मिलन और विरह के रूपक इसी प्रेम की तीव्रता को प्रकट करते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रिय-मिलन के लिए पूर्ण तादात्म्य तथा अपनेपन के भाव का पूर्ण विसर्जन बहुत आवश्यक है :—

सुख की सार सुहागिन जानै, तजि अभिमान रंगरलियाँ मानै।
तन मन देह न अन्तर राखे, राम रसायन रसना चाखे॥

रैदास की कविता में भक्ति का सरलतम रूप 'नाम-स्मरण' मिलता है। भक्ति को सर्वजन सुलभ बनाने के लिए भक्ति का सरलीकरण किया गया था। इसी सरलीकरण का परिणाम भगवान् के नाम-स्मरण के रूप में सामने आया। संत रैदास ने अपने युग को कलियुग माना और यह विश्वास व्यक्त किया। उन परिस्थितियों में 'नाम-स्मरण' ही भगवद्-प्राप्ति का एक-मात्र विकल्प है। उनकी मान्यता है कि वेदों, पुराणों तथा स्मृतियों के सहारे भगवान् को नहीं पाया जा सकता। यह केवल भगवान् का नाम ही है, जो व्यक्तियों को भवसागर के पार ले जा सकता है। रैदास ने सुविधा के लिए 'राम' के नाम को ब्रह्म का नाम मान लिया है। वे विश्वास करते हैं कि यह नाम सिद्धियों को देने वाला, कामधेनु, चिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष है। यही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। रैदास यह निर्देश देते हैं कि अन्य धार्मिक आचरणों को त्यागकर व्यक्ति को इसी नाम का भजन करना चाहिए :—

रैदास राति न सोइए, दिवस न करिये स्वाद।
अहं निस हरीजी सुमिरिये, छांड़ि सकल प्रतिवाद॥

रैदास मानते हैं कि जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श मात्र से लोहा कंचन बन जाता है, उसी प्रकार भगवान् के नाम का स्मरण करने वाला व्यक्ति भगवान् के स्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार रैदास ने भक्ति का यह सरलतम रूप उन लोगों के लिए प्रस्तुत किया, जो पढ़े-लिखे न थे, जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था, जो योग की जटिलताओं को नहीं समझते थे। ऐसे अशिक्षित और सरल भक्तों के लिए रैदास ने भगवान् के नाम-स्मरण के रूप में भक्ति का सरल मार्ग प्रस्तुत कर दिया। इसलिए रैदासजी प्रभु के नाम की आरती उतारते हैं। प्रभु का नाम ही उनके लिए वास्तविक आरती है, नाम ही तीर्थ-

स्थान है। वह आसन जिसके ऊपर बैठकर पंडित मूर्ति की पूजा करता है, भगवत् नाम ही है। चन्दन को रगड़ने वाला पत्थर भी नाम ही है, नाम ही केसर है जो मूर्ति के ऊपर छिड़का जाता है। नाम चन्दन तथा नाम पानी के मेल से तैयार हुए स्मरण-रूपी चन्दन को ही वह प्रभु पर लगाते हैं। उनके लिए नाम ही दीपक है, और वही दीपक की बाती है जिससे समस्त भवन जगमगा उठते हैं। नाम को धागा बनाकर, नाम को ही फूल समझकर वह फूलों की माला बनाते हैं, नाम रूपी चंवर को वह अपने इष्ट पर झुलाते हुए प्रभु का अनन्य भाव से पूजन करते हैं :—

नामु तेरो आरती भजनु मुरारे।
हरि के नाम बिनु झूठे सगल पसारे ।।रहाउ।।
नामु तेरो आसनो नामु तेरो उरसा।
नाम तेरो केसरो ले छिटकारे।।
नाम तेरो अंभुला नामु तेरो चंदनो।
घसि जपे नामु ले तुझहि कउ चारे।।१।।
नामु तेरो दीवा नामु तेरो बाती।
नामु तेरो तेलु ले माहि पसारे।।
नाम तेरे की ज्योति लगाई।
भइउ उजिआरो भवन सगलारे।।२।।
नामु तेरो तागा नामु फूल माला।
भार अठारां सगल जूठा रे।।
तेरो कीआ तुझहि किआ अरपउ।
नामु तेरा तुही चवर दुलारे।।३।।
दसअठा अठसठे चारे खाणी।
इहै वरतणि है सगल संसारे।।
कहै रविदासु नाम तेरो आरती।
सतिनामु है हरि भोग तुहारे।।४।।

(श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, राग धनासरी, पृ० ६९४)

धार्मिक जगत में गुरु और ब्रह्म को एकत्र समझा जाने लगा। इसका परिणाम यह भी हुआ कि ब्रह्म के प्रति लोगों की पूज्य बुद्धि गुरु के प्रति भी स्थानान्तरित हो गई। संतों ने भी गुरु को इसी रूप में देखा और भगवान् के समान ही उसका अभिनन्दन किया। रैदास भी गुरु को अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि सत्गुरु ने उनको ज्ञान और विवेक दिया है, जिससे वे भगवद्-प्राप्ति में लीन हो सके हैं। गुरु के दिए हुए ज्ञान से ही वे अपने आप को सांसारिक माया से भी मुक्त रखने में सफल हुए हैं। रैदास अज्ञान को जीव की दुर्गति का

मूल कारण मानते हैं और विश्वास करते हैं कि इस अज्ञान से छुटकारा दिलाने के कारण ही गुरु वन्दनीय और गौरवशाली हैं। रैदास का विश्वास है कि सच्चा साधु ही गुरु हो सकता है। ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी सतगुरु के प्रति रैदास अपनी समस्त श्रद्धा समर्पित कर देते हैं।

रैदास ने अपने काव्य में गुरु के समान ही संतों को भी बहुत अधिक गौरव दिया है। धार्मिक आचरण के लिए धार्मिक व्यक्तियों के बीच निवास महत्त्वपूर्ण अवश्य होता है। इसका कारण यह है कि धार्मिक साधना के लिए धार्मिक परिवेश से जुड़े रहना और धर्म विरोधी परिवेश से दूर रहना आवश्यक होता है। इसलिए संत लोग या तो समाज का पूरी तरह से त्याग कर देते हैं या समाज से विरक्त रहते हैं। उनका एक-मात्र साहचर्य साधु-पुरुषों से होता है। इसी भावना से संचालित होकर सिद्धों, नाथों तथा निर्गुणधारा के संतों ने प्रायः समाज को त्याग कर अपना जीवन साधुओं के बीच व्यतीत किया है तथा लोगों से भी आग्रह किया है कि वे साधुओं की संगति करें।

रैदास ने भी साधना के क्षेत्र में सत्संगति को अत्यधिक गौरव दिया है। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार गंदा पानी गंगा में मिलकर पवित्र गंगाजल बन जाता है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति भी सत्संगति से मुक्ति पा जाते हैं। उनकी प्रतीति है कि जिस प्रकार वर्षा का जल मिट्टी में मिलकर कीचड़ बनता है, सर्प के मस्तक पर पड़कर मणि बनता है, सीप में गिरकर मोती बनता है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति साधुओं की संगति से गौरव पा सकता है। इस संदर्भ में रैदास ने अपने आप को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि चमारों की नीची जाति में जन्म लेकर, जूतों को ठीक करके आजीविका कमाने पर भी बड़े-बड़े ब्राह्मण उन्हें आकर प्रणाम करते हैं। इसका कारण उनकी सत्संगति ही है। उनका अगाध विश्वास है कि सत्संगति के बिना व्यक्ति के मन में भगवान् के प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता और भगवत्प्रेम के बिना व्यक्ति की मुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना समस्त जीवन साधु-पुरुषों की सेवा में व्यतीत करे।

सत्संगति के साथ ही एक अन्य समस्या जुड़ी हुई है। वह समस्या सांसारिक मोह और माया की है। संत रैदास ने इस मोह या माया पर अपना प्रखर आक्रोश व्यक्त किया है। उनका विश्वास है कि जाति, कुल, पुत्र, पत्नी तथा अन्य सम्बन्ध मिथ्या हैं। गृह, सम्पत्ति, पुत्र आदि सम्बन्धों में आसक्त व्यक्ति कभी भी इस भवसागर से मुक्त नहीं हो सकता है और न ही प्रभु को पा सकता है। इसलिए साधना के लिए रैदास ने इन्द्रियों के निग्रह, संयम, विराग आदि को अनिवार्य माना है। इसीलिए वे संसार में रहते हुए भी संसार के प्रति विरक्त रहने के पक्ष में हैं।

अस्तु, रैदास की साधना-पद्धति अत्यन्त सहज एवं सरल है। इसमें भगवान् के प्रति प्रेम की तीव्रता है, योगियों का संयम और तपश्चर्या है, साधुओं के सदाचरण की पवित्रता है तथा संतों का सामाजिक और धार्मिक दर्शन है। इसमें परम्परा के प्रति लगाव भी है और भक्ति की सरलता भी है। वास्तव में रैदास की साधना-पद्धति सदाचरण में लगे हुए भावुक भक्तों की प्रेम-गाथा है, जिसका लक्ष्य कोटि-कोटि भारतीय जनता का सामाजिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उद्धार करना है। रैदास की साधना-पद्धति की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के विरोध में सचेष्ट नहीं हुए हैं। उनकी दृष्टि सर्वत्र रचनात्मक थी, फलतः न तो वे धार्मिक विरोधों में उलझे हैं और न ही सामाजिक वर्गों और वर्णों के संघर्षों में ही पड़े हैं। रैदास ने इन सब में समन्वय करते हुए ग्राह्य तत्त्वों को अपनाया है और अग्राह्य तत्त्वों को छोड़ दिया है। वे बड़ी ही सादगी के साथ अपनी बात सामने रखते हैं, दूसरों की बात को खंडित करने का प्रयास नहीं करते। इसीलिए वे कबीर-जैसे संतों से स्वतंत्र विचार के अधिकारी हैं।

अन्य संतों की भाँति रैदास प्रौढ़ दार्शनिक न होकर, अध्यात्म मार्ग के यात्री-मात्र थे। अध्यात्म की इस असाधारण यात्रा में उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव हुए थे, जिनको संयोजित कर उनकी विचारधारा का रूप निश्चित किया जा सकता है। इन विभिन्न अनुभवों के व्यूह में पाठक इस प्रकार फँस जाता है कि उसे ये अनुभव परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। इन्हीं आभासित विरोधों से भ्रमित होकर एक विद्वान् ने रैदास को सगुण ब्रह्म का उपासक तक मान लिया है। एक अन्य विचारक का मत है कि रैदास का विश्वास त्रिदेव में था। एक समीक्षक की धारणा है कि रैदास ने सगुण और निर्गुण दोनों ही उपासना-पद्धतियों का समन्वय कर अपनी मौलिक उपासना-पद्धति निर्धारित की थी।

रैदास की विचारधारा में मूल स्वर ब्रह्म का है, तो उसका स्वर एक छोर पर उनकी अपनी हीनता से जुड़ा हुआ है, जिसके केन्द्र में उनकी जाति है। वास्तव में रैदास की मूल समस्या ब्रह्म के साक्षात्कार की न थी, उनकी मूल समस्या तो अपनी हीनताओं से मुक्ति पाकर आत्म-उन्नयन की थी। इसलिए वे निरन्तर ब्रह्म की चर्चा के साथ अपनी जातिगत हीनता को जोड़ देते हैं। रैदास की दृष्टि में भगवद्-भक्ति ही ऐसा एक-मात्र साधन था, जिसके आधार पर वे अपने को समुन्नत अनुभव कर सकते थे। इसीलिए रैदास आत्म-उद्धार के लिए व्याकुल हैं। अपने प्रारम्भिक पदों में रैदास ईश्वर के सम्मुख आत्म-हीनता को स्वीकार करते हुए विनत होते हैं, इसके बाद वे ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, उदारता, दीन-दलितों के प्रति सदाशयता का वर्णन करते हैं तथा अन्त में आकर वे इस बात से आत्म-उन्नयन को अनुभव करते हैं कि वेदज्ञ विप्र भी उन्हें दंडवत करते हैं। इस

व्यक्तिगत समस्या के सहारे ही उनकी आध्यात्मिक विचारधारा अंकुरित और पल्लवित हुई है। इस प्रकार जाने-अनजाने वे उस सामाजिक समस्या पर भी विचार कर गए हैं, जिसने जाति और वर्ण के नाम पर विशाल जनसंख्या का सामाजिक और मानसिक शोषण किया है। सामाजिक दुर्व्यवहार और राजनैतिक अव्यवस्था के संत्रास को सर्वाधिक उस समय की जातियाँ सह रहीं थी। इसलिए रैदास भगवान् की भक्ति की ओर उन्मुख हुए हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में भगवान् नीचों को ऊँचा बनाने वाला है, अतएव वे रैदास की भी विपत्ति को हरने में समर्थ हैं। रैदास की भक्ति इसी साध्य को पाने का साधन है। साध्य के प्रति उनकी निष्ठा भक्ति की गम्भीरता और तल्लीनता से लक्षित होती है।

रैदास के नाम पर अष्टांग-साधना भी प्रचलित है। जिसमें सदन, सेवा, सत्त, नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम तथा विलय को अंग रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें प्रथम तीन को बाह्य अंग के रूप में, द्वितीय तीन को आभ्यांतारिक अंग के रूप में तथा अन्तिम दो को सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति के रूप में स्वीकार किया गया है।

सदन का भाव गृहस्थ जीवन से है जिसे कि रैदासजी ने प्राकृतिक व स्वाभाविक माना है और उनका विश्वास है कि बिना ऐसा सामाजिक जीवन बिताए न व्यक्ति को लौकिक विषमताओं का बोध हो सकता है और न ही वह उनसे ऊपर उठकर भगवतोन्मुख हो सकता है। अतः प्रवृत्तिमय सहज जीवन ही साधना का आरम्भिक आवश्यक अंग है। वैयक्तिक स्वार्थ से और ऊपर उठने के लिए, वरेण्य सामाजिक चेतना के जागरण के लिए, अपने अहम् को विगलित कर विनयिता उत्पन्न करने के लिए तथा अपने में उदारता विकसित करते हुए लोक-कल्याण की भावना को विशेष प्रश्रय देने के लिए उन्होंने अपने साधना-मार्ग में सेवा को विशेष महत्त्व दिया है। रैदास का वैयक्तिक जीवन इस सेवा की साधना से ही अनुप्राणित रहा है। संत को महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में उन्होंने इसलिए स्वीकार किया है कि एक ओर यह सत्संगति ही व्यक्ति में अन्तर्निहित शक्ति को उद्भासित करती है, तो दूसरी ओर उस महान् सत्य से उसका साक्षात्कार कराती है। इन बाह्य साधनों की साधना के उपरान्त साधक आन्तरिक साधना की ओर गतिशील होता है। तप को अपनाकर भगवत्-स्मरण के माध्यम से वह उससे अपने सम्बन्ध को घनीभूत करता है और आत्म-स्मरण की दिशा में प्रयत्नशील होता है। नाम में ही तल्लीनता ध्यान में परिणत होती है और यह ध्यान भक्त में भगवान् के प्रति अनन्य आत्म-समर्पण का भाव उत्पन्न करता है। इसे ही रैदास ने अपनी साधना में प्रणति कहा है। इस धरातल तक पहुँचते-पहुँचते साधक में अपने इष्ट के प्रति अनवरत प्रेम इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह सभी सांसारिक संबंधों के माध्यम से इसे अभिव्यक्ति देकर भी संतुष्ट नहीं हो पाता। उसके इसी

प्रेम की चरम परिणति भगवान् से तादात्म्य स्थापित करती हुई विलय की दिशा तक अग्रसर होती है। साधक उसकी प्रेमानुभूति में जब अपनापन खो बैठता है, तो उसी के अलौकिक एवं अनिर्वचनीय आनन्द में आह्लादित होकर अपना व्यक्तित्व उसी में पूर्णतया तिरोहित कर देता है। इसी को विलय की अवस्था कहा गया है।

रैदास की यह अष्टांग साधना बड़ी मनोवैज्ञानिक और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। बाह्य साधनों से उन्होंने वह वातावरण रूपी भूमि तैयार की, जिसमें अलौकिक प्रेम का बीज अंकुरित हुआ और वही बीज विकसित होकर आत्मा का परमात्मा से एकीकरण करा देता है। उसकी साधना के सभी आयाम विगलित होकर भाव-विह्वल रूप से उसे अपनाने और पाने की व्यग्रता के आयाम है। यही मूल प्रेम-भाव ही उनकी सारी साधना का चरम बिन्दु है, जिसे रैदास ने अपने कर्मण्य निष्कलुष भावपूर्ण क्रियात्मक जीवन के माध्यम से सरल, सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति देकर अपने जीवन को सार्थक किया और जन-समाज को युग-युग के लिए आलोकित।

७

काव्य-सौष्ठव

हृदय की निश्छल अनुभूति जब कभी सहज होकर भी कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेती है तो अनायास ही श्रेष्ठ-काव्य का सृजन होता है। संतों की वाणी इसका ज्वलन्त प्रमाण है। रैदास भी ऐसे ही संतों में से एक प्रखर व्यक्तित्व के धनी संत थे। उनकी हृदय की रागात्मिका वृत्ति भावपूर्ण भक्ति से विगलित थी। अत: उस अव्यक्त शक्ति से इस संत की जो घनिष्ट आत्मीयता इनकी वाणी में देखने को मिलती है वह एक स्वाभाविक चेतना को लिये हुए है। इनकी वाणी इस विषय में तभी स्फुटित हुई जब उनसे रहा न गया। इसीलिए यह कहना न्यायसंगत होगा कि रैदास ने काव्य-सृजन नहीं किया, लेकिन उनकी सहज अभिव्यक्ति की कलात्मक चेतना ने हमें इतना सौंदर्याभिभूत किया कि हम अनायास ही उसे काव्य कह बैठे। वस्तुत: उनके अन्तर्मन की 'अकुलाहट और छटपटाहट जब घनीभूत भावुकता के माध्यम से अनुभूति में परिणत होकर अभिव्यक्त हुई है तभी वह उनकी प्रभावोत्पादक स्थायी देन बन सकी है।

रैदास की साहित्यिक देन का मूल्यांकन करते हुए हम उनकी मूल चेतना के प्रति जागरूक रहने का प्रयत्न करेंगे। अव्यक्त की महान् शक्ति से अभिभूत हुए वे मूलत: भाव परायण-भक्त थे। अत: उनकी विचारधारा का विश्लेषण करते हुए हम देख ही आए हैं कि जहाँ एक ओर उन्होंने ब्रह्म के गुण, ज्ञान, गान, रूप के आख्यान आदि को अपना प्रमुख विषय बनाया है, वहाँ उसे प्राप्ति के साधन-स्वरूप नाम महात्म्य, नाम, जप, संत-महिमा, गुरु-महत्त्व, साधु-संगति, भक्ति की महिमा आदि को भी अपना वर्ण्य विषय बनाया है। लौकिक दृष्टि से संसार की नश्वरता तथा दुर्लभ देह की विवेकशील उपयोगिता पर भी उन्होंने कहा है। इन सबके मूल में बारम्बार उनका दैन्यभाव, विनयिता तथा आत्म-निवेदन देखने को मिलते हैं। रैदास की सारी वाणी का आधार उनकी वैयक्तिक अनुभूति है, चाहे वह लौकिक जीवन से अनुप्राणित हो अथवा अलौकिक जीवन के प्रति समर्पित।

संतों की सामान्य मान्यताओं से संबंधित इन विषयों के प्रस्तुतीकरण में रैदास का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने न कहीं भौतिक तार्किकता का आश्रय लिया, तो न ही कहीं कृत्रिम सम्बद्धतापूर्ण संयोजन का। रैदास के चिन्तन की गरिमा हम उनकी विचारधारा मे व्यापक रूप से देख आए हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति से बचकर चलने का प्रयत्न करेंगे। भावों की जिस तीव्र संवेदना से रैदास परिचालित रहे हैं, वह उनके व्यक्तित्व की उदात्त गरिमा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। रैदास ने जहाँ-जहाँ उस अव्यक्त से वैयक्तिक सम्बन्ध जोड़ा है, वहाँ-वहाँ यह भाव-विभोर करके प्रभावोत्पादक पद-चिह्न छोड़कर जाने वाली शब्दावली में अभिव्यक्ति पा सकी है :—

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा।
जो तुम चंद तो हम भए हैं चकोरा॥
माधवे तुम न तोरहु तो हम न तोरहि।
तुम सो तोरि कवन सो जोरहि॥
जो तुम दीवरा तो हम बानो।
जो तुम तीरथ तो हम जाती॥
साची प्रीति हम तुम सिउ जोरी।
तुम सो जोरी अवरि संग तोरी॥
जंह जंह जाउ तहाँ तेरी सेवा।
तुम सों ठाकुर अउर न देवा॥
तुम रे भजन कटहि जम फाँसा।
भगति हेति गावै रविदासा॥ (पृ० ५७, पद १२)

भावों का ऐसा उदात्तीकरण रैदास की वाणी में बहुत से स्थलों पर उपलब्ध होता है। उनका भाव-विह्वल भक्त जब अभिव्यक्त हुए बिना रह नहीं पाता, तो वह सर्वथा सरल, सपाट और स्पष्ट भाषा में प्रवाहित हो जाता है। ऐसे स्थलों पर उनकी गिरा की गरिमा जहाँ एक ओर भावों के सहज उदात्तीकरण में है, वहाँ दूसरी ओर अन्तर्मन को अनायास छू लेने वाली स्वाभाविक शब्दावली में है। उनकी इस वाणी से निपट अपठ-गँवार से लेकर बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ और ज्ञानी भी अभिभूत होता है। उनकी अनुभूति की तरलता को वह निकलने के लिए किसी आवरण की आवश्यकता नहीं। इसीलिए उनके सामने सम्प्रेषण की समस्या कभी उत्पन्न नहीं हुई। उनकी वाणी अनायास ही उनके कवि-व्यक्तित्व तथा कथ्य के अनुरूप ढलकर प्रसारित होती रही है। कृत्रिम कलात्मकता को उन्हें अपनाने की कहीं आवश्यकता नहीं। फिर भी उनकी सहज अभिव्यक्ति की कलात्मकता इतनी प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई कि अपनी सौंदर्य चेतना से उन्होंने युग-मात्र को आकर्षित और प्रभावित

किए रखा। अनुभूति से उद्भूत उनकी इस उदात्त-भावना को जब कल्पना की ऊँची उड़ान का आश्रय मिल गया, तब तो वह और भी सरस और सशक्त हो गई। भक्त की तो कल्पना भी सहज ही है। आराध्य राम का बंजारा बनकर वह सहज व्यापार करता है और करता है नाम-धन की कमाई। विष छोड़ देता है शेष संसार के लिए :—

हउ बनजारो राम को सहज करउ व्यापारू।
मैं राम नाम धन लादिया बिखु लादी संसारि।।

रैदास की कल्पना-शक्ति अलौकिक क्षेत्र में नहीं, लौकिक क्षेत्र में भी अद्भुत सफलता पा सकी है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने परिवर्तनशील इस संसार के सत्य से हमें परिचित कराया कि उसका रंग तो बदलने वाले कुसुम्भ फूल के रंग के समान है और मुझ पर तो मजीठ का पक्का रंग चढ़ा है। यह पक्का रंग भगवद्भक्ति का है :—

जैसा रंगु कुसुंभ का तैसा इहु संसारू।
मेरे रमईए रंगु मजीठ का कहु रविदास चमार।।

रैदास की कल्पना ने उनके भावों को जैसा रंगीन और प्रभावोत्पादक रूप में रंगा है वह देखते ही बनता है। "माटी का पुतरा कैसे नचतु है" उनकी कल्पना ने अपने शब्द-चित्रों के माध्यम से जिस नाचते हुए मानव को रूपायित किया है उसकी नश्वरता भी कितनी साकार हो उठी है यह देखते ही बनता है। और इसी देह की नश्वरता को और अधिक रूपायित किया है उन्होंने इसे क्षण-भर में अपना अस्तित्व मिटा देने वाली घास का परिचय देकर :—

इहु तन ऐसे जैसे घास की टाटी।
जलि गइयो घासु रलि गइयो माटी।। (पद २७)

असार देहधारी को रैदास ने उसकी "प्रेम की जेवरी" से बाँध दिया है। विचारणीय है जेवरी कितनी सशक्त होती है और आप कहीं सच्चे प्रेमी हैं, तो उससे छुटकारा ही कहाँ? कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रैदास के सहज-चिन्तन और उदात्त-भावना को विराट कल्पना ने जो रंगीनी प्रदान की है, उसने अनुभूत्याधारित उनकी गिरा की गरिमा को अभिव्यक्ति की महिमा से मंडित भी कर दिया है।

रैदास की स्पष्टता उनकी अनुभूति की सूक्ष्मता की देन है। ब्रह्म विषयक चिंतन कहीं-कहीं पर सम्प्रेषण की समस्या को प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म की प्रतीति ही कुछ ऐसी है जो स्वतोव्याघात तथा परस्पर विरोधों से पूर्ण

है। यहीं पर आकर रैदास की कवि-वाणी घुटने टेक देती है और रैदास को स्वीकार करना पड़ता है कि उस अकथनीय का वर्णन कर पाना उनके लिए सर्वथा असंभव है :—

कहि रविदास अकथ कथा बहु काइ करीजैं।
जैसा तू तैसा तुही किआ उपमा दीजैं॥

इस दुर्बोध वर्ण्य-विषय की अभिव्यक्ति तो स्वाभाविक रूप से अस्पष्ट होने को बाध्य है। ऐसे स्थलों पर पाठक को विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता है, क्योंकि यहीं पर कलावादी प्रतिमानों को रैदास की कविता पर आरोपित कर देने का खतरा है। यहाँ आवश्यकता रैदास की कविता में विषयगत औदात्य के मूल्यांकन की है, उनकी कलावादिता के विश्लेषण की नहीं। विषयगत औदात्य की दृष्टि से रैदास की कविता अत्यंत समृद्ध है।

यह संयोग की बात है कि रैदास की कविता अनुभूति के धरातल पर जितनी प्रामाणिक और उदात्त है, अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उतनी ही सृजनमयी तथा बिम्ब-जीवी है। रैदास की कविता केवल अभिधात्मक अभिव्यंजना प्रणाली के द्वारा ही सम्प्रेषण नहीं करती है, कहीं-कहीं वह वक्रता को भी लिये हुए है। अभिव्यक्ति की यह वक्रता प्रतीकों के सहारे लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के सौन्दर्य को भी प्रकट करती है। आत्मा-परमात्मा के मध्य संबंध-भावना को प्रकट करने के लिए उन्होंने अनेक प्रतीकों को अपनाया है। आत्मा के लिए प्रयुक्त मोर, चकोर, बाती, जाति, पानी, धागा आदि प्रतीकों का महत्त्व परमात्मा के लिए प्रयुक्त प्रतीकों गिरिवर, चन्द्रमा, दीपक, तीर्थ, चन्दन, मोती आदि के संबंध से है। इन अप्रस्तुत प्रतीकों के द्वारा कवि ने सुन्दरता के साथ उस संबंध को ज्ञापित किया है, जो आत्मा और परमात्मा के बीच है। शरीर की क्षणभंगुरता को अभिव्यक्ति देने के लिए रैदास ने बड़े सुंदर लाक्षणिक अप्रस्तुतों का उपयोग किया है :—

जल की भीति, पवन का थम्बा, रकत बूंद का गारा।
हाड़ मांस नाड़ी को पिंजर, पंखी बसै बिचारा॥ (पृष्ठ ७३, पद ३६)

रैदास की कविता उत्कृष्ट कलावादी रुचि का भी परिचय देती है। दार्शनिक रहस्यों के प्रकाशन में रैदास ने प्रतीकों के माध्यम से सुंदर व्यंग्य-रचनाओं को प्रस्तुत किया है।

समीक्षकों का एक वर्ग काव्य-सृजन में बिम्बों की रचना को सम्प्रेषण की दृष्टि से बहुत महत्त्व देता है। कला-दर्शन के मर्मज्ञ एवं प्रसिद्ध विचारक क्रोचे ने माना था कि कलाओं में प्रतिभा-ज्ञान के द्वारा कल्पना के सहयोग से बिम्बों का सृजन ही सौंदर्य को उपस्थित करता है। रैदास ने भी अपनी अभिव्यक्ति को सबल

तथा सफल बनाने के लिए बिम्बों का सृजन किया है। हम यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने अपने भावों को बिम्बों के माध्यम से सम्प्रेषित किया है। अज्ञानी जीव की दशा को प्रकट करने के लिए उन्होंने कूप में पड़े हुए मेंढक का बिम्ब प्रस्तुत किया है—"कूप पर्‌यो जस दादुरा, कछु देश विदेश न बूझ"। सबसे बड़ी बात यह है कि ये बिम्ब अन्ततः अक्षय अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा कवि का मानस-जगत् तो पाठक तक सम्प्रेषित हो ही जाता है, भावों के सौन्दर्य के नए क्षितिज भी उदित हो जाते हैं।

कुछ कला-पारखी समीक्षकों ने अलंकृति को भी आवश्यक माना था। अलंकार वे साधन हैं, जिनके माध्यम से कवि अपने शब्दों में अतिरिक्त अर्थ भरता हुआ सौंदर्य की सृष्टि करता है। रैदास ने प्रायः अपने भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए उपमा, रूपक जैसे सादृश्यधर्मी अलंकारों का आश्रय ग्रहण किया है। उनके रूपक बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए संसार-रूपी सागर में अपनी दुःखद स्थिति को व्यक्त करते हुए कवि ने कहा है—"हे गोविन्द ! भवसागर की व्याधि अपार है, इसका अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। मेरी नाव लोहे की है, उसमें पत्थर भरे हुए है, मेरे मन में अच्छे भाव भी नहीं हैं, लोभ-रूपी लहरें इस नाव को ग्रस्त करने को तत्पर हैं, मेरा मन इसमें मछली के समान डूबा हुआ है" :—

> लोह की नाव पषानन बोझी, सुकीरत भाव विहीना।
> लोभ तरंग मोह भयो काला, मीन भयो मन लीना ॥

निस्संदेह ये रूपक भावों की अभिव्यक्ति में बहुत सहायक हैं। उपमा, रूपक जैसे अलंकारों से उनका काव्य-सौंदर्य अधिक बढ़ा है।

रैदास की भाषा लोक-जीवन की भाषा है। फलतः इसमें अवधी तथा ब्रज दोनों हिन्दी रूपों का प्रभाव है। सरल भाषा में सहज ढंग से अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रस्तुत करना रैदास की उपलब्धि है। रैदास ने आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों को भी अपनी अनुभूति में भिगोकर प्रस्तुत किया है। यही कविता है।

साहित्य का मूल्य इस बात से भी निश्चित होता है कि वह जीवन-यथार्थ को कितनी गहराई तक भोगता है तथा जीवन को नवीन दिशा देने में समर्थ होता है ? इन दृष्टियों से विचार करने पर रैदास की कविता आत्मनिष्ठ होकर भी देश और जाति की सामयिक समस्याओं का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। जातिगत असमानता की प्रबल समस्या को रैदास ने अपनी कविता का उपजीव्य बनाया है, जो मध्यकाल की प्रमुख समस्या थी। सेवा, सहायता और परोपकार की निष्ठाओं से संचालित उनकी भक्ति-भावना सामाजिक-सहभाव और सह-अस्तित्व

के नए क्षितिज खोलती है। इसलिए उनकी कविता की आत्मनिष्ठा अन्ततः सामाजिकता में बदल जाती है। यहीं पर रैदास निरीह भक्त और आत्म-लीन कवि से सामाजिक चिन्तक बन जाते हैं।

इतना होते हुए भी विषय की दृष्टि से हम रैदास के काव्य में जहाँ एक ओर आध्यात्मिक आनन्द से उल्लसित होने पर अनुभूति की अभिव्यक्ति पाते हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक संत्रास का शिकार होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया में उद्भूत आक्रोश को भी विनयितापूर्ण शब्दावली में ही अभिव्यक्त होते हुए देखते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर रैदास का भक्त कवि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उसका सामाजिक व्यक्तित्व भी समाज के उन्नयन के प्रयत्न में कवि के रूप में मुखरित हुआ है।

यदि श्रेष्ठ काव्य के मूल्यांकन का आधार अनुभूति की गहराई को तथा अभिव्यक्ति की पारदर्शिता को स्वीकार कर लिया जाए, तो निश्चित रूप से हमें रैदास को श्रेष्ठ कवि मानना होगा। इतना ही नहीं, यदि निश्छल अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य मान लिया जाए, तो भी रैदास को प्रथम कोटि के कवियों में ही स्थान मिलेगा। संत-काव्य के मर्मज्ञ दिवंगत हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण है तो निस्सन्देह रविदास के भजन इस गुण से सम्बद्ध हैं। सीधे-सादे गुणों में संत के भाव बड़ी सफ़ाई से प्रकट हुए हैं। और वे अनायास ही सहृदय को प्रभावित करते हैं। उनका आत्म-निवेदन, दैन्य-भाव और सहज भक्ति इसी श्रेणी के भाव कवि के हृदय में संचरित करते हैं। इसी को काव्य में प्रेषणीयता का गुण कहते हैं।"

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रैदास एक ऐसे युग-पुरुष थे, जिन्होंने अपने युग की सभी मान्यताओं का समन्वय कर सामान्य जनता को एक सहज और सरल साधना-पद्धति कवि-सुलभ सहृदयता के साथ दी। उनकी कविता ने न केवल काव्य-प्रेमियों को कविता के आनन्द के साथ-साथ आध्यात्मिक आनन्द दिया, वरन दीन-दलित जनता को ऊपर भी उठाया। उनकी कविता कलात्मकता में तो सफल है ही, विचारों की क्रांति में भी अपने युग को पूरी तरह से प्रतिबिम्बित करती है। कविता की कलात्मकता उनको सहृदय कवि बनाती है तथा विचारों की गंभीरता उनको सामाजिक चिन्तक तथा सफल दार्शनिक। यह उनकी साहित्यिक गरिमा के आयाम हैं।

८

उपसंहार

वैयक्तिक जीवन में रैदास तथा सभी संतों ने अनुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है और इसी आधार पर उन्होंने क्रियात्मक जीवन बिताया है। यह अनुभूति ही उनके धर्म की आधारभूमि है। इसीलिए सामाजिक परम्परा में मान्यता प्राप्त आचारों को भी उन्होंने वहीं तक प्रश्रय दिया, जहाँ तक वे उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे उतरे थे। उन सामाजिक या धार्मिक आचारों और विश्वासों का उनके जीवन में कोई स्थान न था, जो उनकी अनुभूति की कसौटी पर पूरे न उतरे थे। इस प्रकार उनका जीवन वैयक्तिक पहले था, सामाजिक बाद में।

इनकी जीवन दृष्टि मूलतः मानवतावादी थी। इसीलिए छीपी, दर्जी, नाई, जुलाहा, चमार और राजा सभी एक भक्ति के सूत्र में पिरोए जाकर 'संत माला' के जगमगाते 'माणिक' बन गए। गत छह-सात शताब्दियों में भारत में हज़ारों संत-समुदायों ने जन्म लिया, लेकिन इस मानवतावादी दृष्टि से कोई भी दूर न रह सका। धर्म, अर्थ, कर्म, वर्ण व जाति के आधार पर मानव-समाज का विभाजन किसी ने भी स्वीकार न किया। इतना ही नहीं, उत्तराधिकारी के चुनाव में भी इनमें से किसी आधार या पुत्र-परम्परा को स्वीकार न किया गया, अपितु जिस शिष्य में मानवीय तत्त्व सर्वाधिक विकसित हो सके, उसे ही गद्दी का अधिकारी बनाया गया। वैयक्तिक स्वार्थों के कारण सदा ही इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, लेकिन मानवतावादी दृष्टि इस विद्रोह के सम्मुख कभी झुकी नहीं, इसी से इसका महत्त्व स्पष्ट है।

रैदास ने काव्य-निर्माण का बीड़ा कभी नहीं उठाया था और न ही काव्यगत विशेषताओं से उनका कोई परिचय ही था। कभी-कभी वैयक्तिक आह्लाद में वे गाने पर विवश हो गए थे। इस आन्तरिक विवशता में अनुभूति की जो अभिव्यक्ति हुई अथवा जन-सामान्य को जिस वाणी में उन्होंने अपना संदेश दिया, उसे हम उनका काव्य समझ बैठे ! मूलतः काव्यत्व तो उनके संदेश का बहुत गौण

तत्त्व था, इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन करने वाले इनके साथ न्याय न कर सके। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्रेरणास्रोत वैयक्तिक आनन्द तथा सामाजिक संदेश रहा है, अतः मूल्यांकन करते हुए हम इसे भुला नहीं सकते।

रैदास की संत-भावना की यह सामान्य पृष्ठभूमि थी, जिसपर विचारधारा विशेष का प्रासाद निर्मित हुआ। आगामी पंक्तियों में इसकी विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे निर्गुण-चेतना का बोध हो सके।

रैदास का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि कोटियों में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः संतों ने उसे बौद्धिक या तार्किक पद्धति का आधार प्रदान नहीं किया। अतः इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नहीं हो सकती। रैदास के ब्रह्म पर विचार करते हुए हम देख आए हैं कि वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वह तो निर्गुण-सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसके स्वरूप और गुणों की अन्यान्य व्याख्याओं के वाद भी कोई संत संतुष्ट नहीं हुआ कि वह समाज के लिए ब्रह्म के रूप का स्पष्टीकरण कर सका है।

उसका गुणगान करते-करते 'सुर, नर, मुनि, जन' का तो कहना ही क्या स्वतः ब्रह्मा तक थक गए, लेकिन अनन्त का कोई अन्त न पा सके। उपनिषदों की तरह ब्रह्म की 'नेति'-परक व्याख्या भी यहाँ मिलती है। उसे सर्वत्र, सर्वव्यापक, सर्वनियंता, सर्वान्तर्यामी आदि स्वीकार किया गया है। मूलतः निर्गुण वह अनिर्वचनीय है, लेकिन गुणों के माध्यम से जब उसके स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह सगुण निराकार रूप ग्रहण कर लेता है। पर संतों का सगुण-निराकार स्वरूप भी तुलसी-जैसा सगुण नहीं, क्योंकि वह तो लौकिक गुणों से अतीत ही है, इसीलिए मूलतः हम उसे निर्गुण ही स्वीकार करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का प्रसार है, लेकिन वह स्वतः अविकृत और निर्लिप्त रहता है। सृष्टि का एक-मात्र उपादान और निमित्त कारण है। संतों की दृष्टि में सृष्टि शंकरवत् मिथ्या नहीं, यह सत्य है, क्योंकि सत्य ब्रह्म का ही प्रसार है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अथवा जीव भी उसी तरह सत्य है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में उन्होंने अंशांशी सम्बन्ध को स्वीकार किया है। 'अग्नि-स्फुलिंगवत्' जीव में ब्रह्म के सब गुण हैं, उन्हें वह विकसित कर ब्रह्म से तादात्म्य और ऐक्य स्थापित कर अपने व्यक्तित्व को उसी में तिरोहित कर सकता है। यह जीव के जीवन का लक्ष्य या साध्य है, जो प्राप्त करना दुष्कर है, लेकिन रैदास ने मानव को सदा इसके प्रति सतर्क किया है और इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी तथा मार्ग भी बताया है। इस भेद के आभास का कारण उन्होंने सर्पिणी माया को बताया है। वस्तुतः माया ही जीवन को भरमाकर इस संसार के प्रलोभनों में फँसा

देती है और उसे लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट कर देती है। इन्द्रियों के वश में होने के कारण जीव मूलतः कंचन और कामिनी का शिकार हो जाता है। लौकिक समृद्धि की चाह उसे सब प्रकार के दुष्कर्मों की प्रेरणा देती है और कामिनी मानव की वासनाओं को उभारकर उसके चित्त को मलिन कर देती है। रैदास ने इनका विरोध नहीं किया, अपितु इनका परिहार किया है। भरमाने वाली माया से जीव को सतर्क करते हुए उन्होंने अनावश्यक धन-संग्रह को जहाँ बुरा बताया है, वहाँ पूर्णतः कामिनी में लिप्त हो जाने की भी भरपेट निन्दा की है। लेकिन धन और स्त्री को न छूने वाले साधुओं में भी वे न थे। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए उन्होंने लौकिक और पारलौकिक जीव में अद्भुत संतुलन स्थापित किया हुआ था। भावात्मक आवेश में रैदास ने अपनी विचारधारा का त्याग नहीं किया था, यही उसके व्यक्तित्व की महानता थी। वस्तुतः जहाँ एक ओर रैदास ने माया-लिप्त हो धन-संग्रह का विरोध किया था, वहाँ अकर्मण्य जीवन का भी उतना ही शक्तिपूर्ण विरोध किया था। इसी प्रकार गृहस्थ में लिप्त गृहस्थियों और पलायन-वादी साधुओं, दोनों का ही उन्होंने विरोध किया था। सच पूछा जाए, तो इसी से उनके 'सहज पथ' का निर्माण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक नियमों को उन्होंने सहज रूप से अपनाया और क्रियात्मक जीवन के माध्यम से जन-समाज को अपनाने का संदेश भी दिया है।

वह युग अन्तर्विरोधों का युग था। ज्ञानियों के शुष्क ज्ञान ने उनके अहंकार को जागृत किया था, पर उनका बौद्धिक संतोष न कर सका था। रैदास ने ज्ञाना-धारित सत्यों को वहाँ तक अपनाया, जहाँ तक वे जीवन-बोझिल न बनाने वाले सिद्ध हुए। ज्ञान को अपनाए बिना उसकी बात करने वाले को उन्होंने धिक्कारा है। इसीलिए वेद इत्यादि पुस्तकीय-विद्या की निन्दा नहीं की, अपितु समझे बिना अपनाने का राग अलापने वालों को आड़े हाथों लिया है। उनकी कृतियों में कहीं-कहीं पुस्तकीय-विद्या का विरोध भी प्रतीत होता है, उससे भी मूल-भाव उसके ज्ञान को न अपनाने वालों का ही विरोध है। अनुभूत्याधारित ज्ञान को उन्होंने सर्वत्र ही प्रश्रय दिया है।

जन-समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से प्रसारित होने वाली भक्ति में उन्होंने भाव का अभाव पाया। इसीलिए भक्ति के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए, परन्तु उनकी आंतरिक शक्ति क्षीण होती गई। रैदास ने भावहीन आवरणों और आडम्बरों का जी भरकर विरोध किया। मूर्ति-पूजा करने वालों का अन्तर में बैठी हुई मूर्ति से परिचय कराया, मंदिर जाने वालों को मन-मंदिर की याद दिलाई, 'कर का मनका' फेरने वालों को 'मन का मनका' ला पकड़ाया, तीर्थों के भ्रमण करने वालों को सत्गुण-रूपी तीर्थ के दर्शन करवाए, गंगा-स्नान करने वालों को अन्तः स्नान का पाठ पढ़ाया, व्रत रखने वालों को

वास्तविक व्रत का महत्त्व बताया। इन आवरणों के माध्यम से भक्ति अपनाने में प्रयत्नशीलों को भक्ति के मूल तत्त्व भावपूर्ण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का भी उन्होंने विरोध नहीं किया, अपितु उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर सहज और स्वाभाविक बना दिया, ताकि जन-सामान्य भावपूर्ण हृदय से बिना किसी आडम्बर के उसे अपना सके।

रैदास ने इस जटिलता का विरोध कर उसे सहज रूप में अपनाया। जहाँ तक स्वास्थ्य-रक्षा का सम्बन्ध है, उन्होंने सशक्त, स्वस्थ देह को पोषित करने का संदेश दिया है, लेकिन विकृत साधनाओं के माध्यम से उसे अनावश्यक रूप से कष्ट-सहिष्णु बनाने का खुलकर विरोध किया है। इनकी अष्टाँग-साधना इसी सहज-साधना का क्रियात्मक परिचय देती है।

सच पूछा जाए, तो उन्होंने एक बार फिर ज्ञान, भक्ति और कर्म की एकांगिता का विरोध कर तीनों का उचित समाहार कर समन्वित जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार तीनों के विचारों से तंग आकर धर्म पराङ्मुख होती हुई जनता को एक बार फिर धर्मोन्मुख किया। इस कार्य के लिए उनका सबसे बड़ा सहायक हुआ सत्गुरु। रैदास ने इस बात को समझ लिया था कि अज्ञानी गुरुओं ने ही भोली-भाली जनता को पथभ्रष्ट किया हुआ है, इसीलए उन्होंनें सत्गुरु की बड़ी कठिन कसौटी रख दी, लेकिन इसके साथ-साथ उसका महत्त्व भी अत्यधिक बढ़ा दिया। सत्गुरु वही हो सकता है, जिसने खुद मार्ग पा लिया है और जो संसार से ऊपर उठ चुका है, अब जिसे केवल लोक-कल्याण की लगन है। इसीलिए उसका महत्त्व साध्य से भी अधिक हो गया। क्योंकि इस साधन के बिना साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। सत्गुरु ने समाज को सत्कर्म का महत्त्व बताया। बिना सत्कर्मों के मानव का वह धरातल ही नहीं बन पाता, जहाँ वह पारलौकिक जीवन की बात सोच सके। सत्कर्मों के माध्यम से मानव इतना औचित्य-परक बन जाता है कि 'नाम' प्राप्त करने का अधिकारी बन जाए। सत्गुरु का सबसे बड़ा वरदान 'नाम' है। सांसारिक जीव इस नाम के सहारे ही उस दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, क्योंकि मूर्ति आदि उसके प्रतीक स्वरूप हैं और कोई साधन जीव के पास नहीं है। इस 'नाम' में अनन्यता, एकाग्रता और अनवरत तल्लीनता भक्त को सफलता प्रदान करने वाले विशिष्ट तत्त्व हैं। रैदास ने 'नाम' को इतना महत्त्व दिया, इसी से इनके मार्ग को कइयों ने 'नाम-मार्ग' तक की संज्ञा प्रदान कर दी है। 'नाम' कोई भी हो, उसका महत्त्व उतना नहीं, जितना उसमें अन्तर्हित भाव का। और नाम तो उस भाव को ही जागृत रखने का साधन-मात्र है। सच पूछा जाए, तो सत्गुरु और नाम को अर्जित नहीं किया जा सकता, यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है, और यह भगवत्कृपा कब प्राप्त हो, यह कोई जान नहीं पाता। व्यक्ति भावपरायण होकर सत्कर्म करता

चले, यदि उसके विश्वास में बल होगा, निश्चय में दृढ़ता होगी, भक्ति में अनन्यता होगी, तो भगवत्कृपा भी कभी-न-कभी हो ही जाएगी और जब भगवत्कृपा हो गई, तो कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। संतों ने एक स्वर से भगवत्कृपा को ही सर्वप्रधान साधन स्वीकार किया है। सत्कर्म, सत्संगति, सत्गुरु आदि इसके लिए उपयुक्त वातावरण का सृजन कर सकते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं।

अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आलंकारिक चमत्कार-मयी वाणी का आश्रय नहीं लिया, अपितु भाषा की सरलता, स्पष्टता और शक्तिमत्ता ने ही उनकी शैली को साहित्यिकता प्रदान की है। न उनके मन में, न उनकी विचारधारा में, किसी प्रकार का दबाव-छिपाव था, और न ही अभिव्यक्ति में कोई वक्रता। हाँ, उनके सीधे-सादे परन्तु सशक्त व्यंग्यों में आडम्बर-वादियों को तिलमिला देने की अद्भुत सामर्थ्य थी, वही उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति है। इसका यह मतलब नहीं कि उनकी वाणी में नम्रता नहीं है। भगवान् के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होती है। उनका अपना तो अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुतः उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नहीं, भावधारा पालती रही है, इसी से वह सहज, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन को प्रभावित करती है, इससे बढ़कर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है?

रैदास की संत-भावना किसी सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध नहीं हुई, इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायों के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता जा रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, अर्थ और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास ही अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहाँ किसी प्रकार का बन्धन न था। जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। रैदास की मान्यताओं का धरातल बड़ा व्यापक था। वस्तुतः उनकी मान्यताओं की आधार-भूमि एक ही थी, अतः उनपर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ, उसके मूल तत्त्वों में कोई अंतर न आया, यही इस भावना की स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रियाकलापों को इसमें स्थान न देकर संतों ने इसे विशिष्ट नहीं होने दिया। बाह्य आवरणों, आडम्बरों या कर्म-कांडों के अभाव ने इसे भाव-प्रधान बना रहने में सहायता दी। इस प्रकार संकीर्णता के आधार-स्तम्भों के अभाव में इसे कम विरोध सहना पड़ा और इसे भी शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आने वाले चरित्रवान् व्यक्ति ने इसे हँसकर अपनाया, यदि नहीं भी अपनाया, तो कम-से-कम इसका विरोध नहीं किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गों के चरित्रवान् व्यक्तियों का आश्रय पाकर यह सशक्त होती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशान्ति के इस युग में आज राजनीतिज्ञों

ने 'विश्व-सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई में जाकर मानव-मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जाए, तो वह मानवधर्म और कुछ नहीं, रैदास तथा सहयोगी संतों की सामान्य मान्यताओं से उद्भूत निर्गुण-चेतना का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है। धरा-धाम का उद्धार करने वाले, मानव-मानव को एकता का संदेश देने वाले, जीवन में अलौकिक रस का संचार करने वाले, विश्व में शान्ति का प्रचार करने वाले संतों ने जिस मध्ययुगीन निर्गुण-चेतना का विकास और प्रसार किया, उसने ही रैदास तथा उन-जैसे अन्य संतों को भी अमर कर दिया।

पुस्तक-सूची

१. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब : गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर
२. रैदासजी की वाणी : बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद
३. संत रैदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : श्री संगमलाल पांडेय
४. संत रविदास और उनका काव्य : श्री रामानन्द शास्त्री तथा श्री वीरेन्द्र पांडेय
५. संत रैदास : डॉ० योगेन्द्र सिंह
६. रविदास-दर्शन : आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद
७. संत गुरु रविदास वाणी : डॉ० बेणी प्रसाद शर्मा
८. संत रविदास : श्री रतन चन्द्र
९. गुरु रविदास : आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद
१०. संत रविदास : विचारक और कवि : डॉ० पदम गुरुचरण सिंह
११. संत रैदास (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) : डॉ० भगवत मिश्र
१२. उत्तरी भारत की संत परम्परा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
१३. मध्यकालीन धर्म-साधना : आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
१४. मध्ययुगीन निर्गुण चेतना : डॉ० धर्मपाल मैनी
१५. संतों के धार्मिक विश्वास : डॉ० धर्मपाल मैनी